जैन भारती

वर्ष 48 • अंक 10 • अक्टूबर, 2000

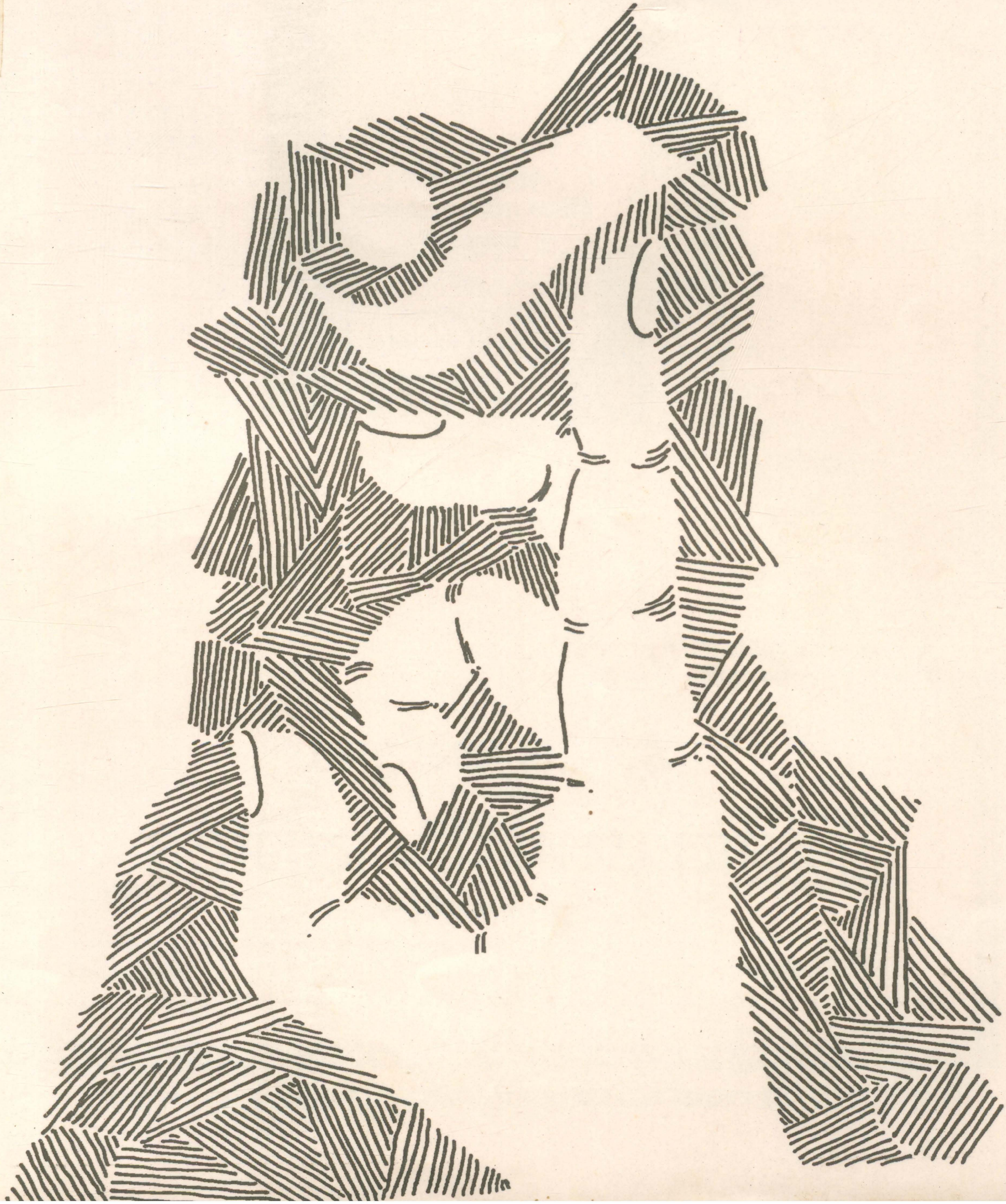

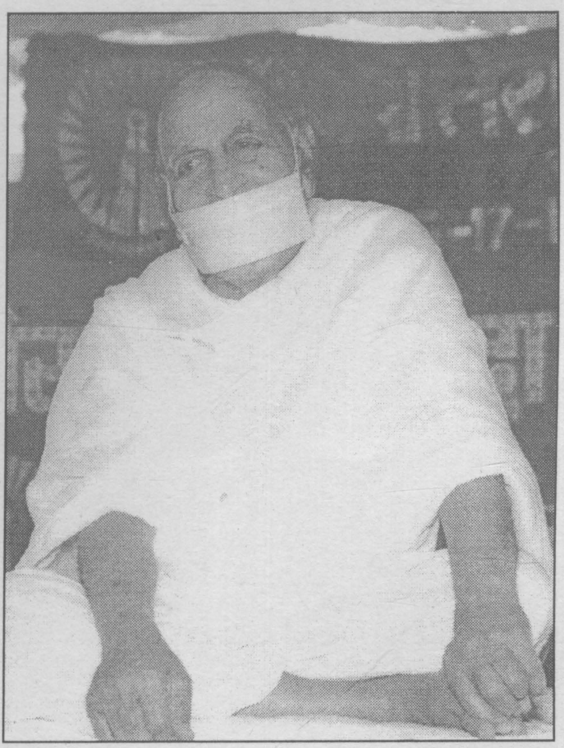

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

अक्टूबर, 2000 वर्ष 48 अंक 10 रु. 15.00

विमर्श

9
वी. एम. तारकुण्डे
धर्म-निरपेक्ष नैतिकता

17
डॉ. बच्छराज दूगड़
अहिंसा सार्वभौम का सपना

अनुभूति

21
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
विश्वधर्म का ताबीज : सच्चंमि धिइं कुव्वहा

25
आचार्यश्री तुलसी
परिकल्पना नए मानव की

28
साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा
मोहन महनीय व्यक्तित्व

30
मुनि धनंजय कुमार
अनाहार सूत्र की साधिका

37
कहानी
वीरेन्द्रकुमार जैन
मैं कौन हूं

44
कविता
अशोक वाजपेयी
बहुरि अकेला

प्रसंग

5
शुभू पटवा
सच और साफगोई

शीलन

47
साध्वी स्वस्तिकाश्री
शाश्वत सुख का मार्ग

49
गुणवंत शाह
अहिंसा : व्यावहारिक अनिवार्यता

51
बालकथा
रवीन्द्र कालिया
एक सौ दस बटा सौ

55
जैन भारती पाठक पहेली

•
आवरण
अडिग

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

यह निर्विवाद है कि मानव जाति की एकता मौलिक है और उसके विभेद आरोपित। मानव-संस्कृति की सार्वभौमिकता भी इसीलिए एक आदर्श सत्य है। किंतु यह सार्वभौमिकता संस्कृति की एकता नहीं है। आदर्श एकता यथार्थगत भेदों के वास्तविक एकीकरण से प्राप्त न होकर, उन भेदों में व्याप्त एक अनंत साम्य के दर्शन से चेतना में व्यक्त होती है। इस प्रकार ऐतिहासिक संस्कृतियों के विभाजन मानव-संस्कृति की आदर्श एकता से पूर्णतया समंजस हैं। इसीलिए संस्कृतियां जहां एक ओर अपने आदर्शों को सार्वभौम मानती हैं, दूसरी ओर वे अपनी सत्ता को एक विशिष्ट समाज अथवा जाति में आधारित करती हैं। सभी ऐतिहासिक संस्कृतियों में आदर्श और यथार्थ की अविस्रब्ध साझेदारी मिलती है। बल्कि यह कहना चाहिए कि उनमें एक आवश्यक अंतर्द्वंद्व रहता है। इसीलिए किसी भी संस्कृति का आदर्शपरक निरूपण उसके आधारभूत ऐतिहासिक समाज के यथार्थ का अविकल निरूपण नहीं हो सकता। दूसरी ओर आदर्श और यथार्थ को जोड़ने की नीति सभी संस्कृतियों का आवश्यक अंग होती है। इस दृष्टि से यथार्थ का सामान्य विवेचन भी उनके आदर्श में अंतर्भूत होता है।

यद्यपि यह निस्संदेह है कि भारतीय संस्कृति में एक सार्वभौमिकता का भाव अंतर्निहित है, यह उतना ही निर्विवाद है कि भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक परंपरा में उसकी अंतर्निहित सार्वभौमिकता अधूरे रूप में ही चरितार्थ हुई है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक रूप उसके पूर्ण प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते। किंतु यथार्थ की इस असरूपता से संस्कृति के आदर्श असत्य नहीं हो जाते हैं। वस्तुतः ये कठिनाइयां सभी संस्कृतियों में समान रूप से मिलती हैं।

—डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे

'भारतीय परंपरा के मूल स्वर' से

जिस कार्य से संसार चले, बंधन हो उसी से यदि मुक्ति मिले तो फिर बंधन और मुक्ति को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। बंधन और मुक्ति यदि एक हों तो उनकी सामग्री भी एक हो सकती है और यदि वे भिन्न हों तो उनकी सामग्री भी भिन्न होगी। राग, द्वेष और मोह से संसार का प्रवाह चलता है तो उससे मुक्ति कैसे प्राप्त होगी? वीतराग भाव से मुक्ति प्राप्त होती है तो उससे संसार कैसे चलेगा? दोनों भिन्न दिशाएं हैं। उन दोनों को एक बनाने का यत्न करने पर भी हम एक नहीं बना सकते। लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो कर्तव्य का स्थान सर्वोपरि है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो सर्वोपरि स्थान है धर्म का। दोनों को एक-दूसरे की दृष्टि से देखा जाय तो उलझन बढ़ती है। दोनों को अपनी दृष्टि से देखा जाय, तो अपने-अपने स्थान में दोनों का महत्त्व है। लौकिक दया के साथ अहिंसा की व्याप्ति नहीं है, इसलिए अहिंसा और दया भिन्न तत्त्व हैं। लोकोत्तर दया और अहिंसा की निश्चित व्याप्ति है। जहां दया है वहां अहिंसा है और अहिंसा है वहां दया है। इस दृष्टि से अहिंसा और दया एक तत्त्व है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

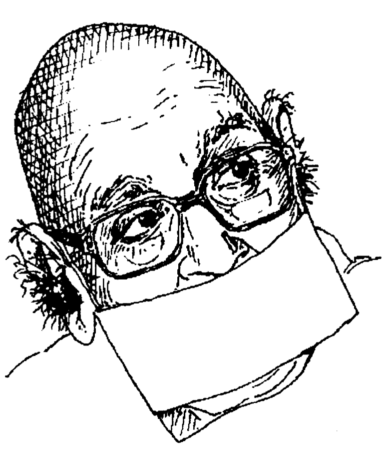

अ‍सुख और अशांति ये दोनों महाभय के कारण हैं। इनका प्रवाह कर्म में है। कर्म का प्रवाह मोह में है। प्रिय और अप्रिय पदार्थों में मूढ़ बनने वाला शांति नहीं पा सकता और सुख भी नहीं। सुख इंद्रिय और मन की अनुभूति है। वह प्रियता की कोटि का तत्त्व है। शांति आत्मा की समवृत्ति है। सुख-दुख, लाभ-अलाभ, जीवन-मृत्यु, उत्कर्ष-अपकर्ष आदि उतरती-चढ़ती सभी अवस्थाओं में वृत्तियों की जो समता है वह शांति है। अप्रिय और प्रतिकूल संयोगों में भी विचार तरंगों की अप्रकंपना जो है वह शांति है। आत्म-निर्भरता और स्वावलंबन जो है वह शांति है। श्रमण संस्कृति का अर्थ है, शांति की संस्कृति। वह सम, शम, और श्रम-स्वावलंबन या वैयक्तिकता के आधार पर टिकी हुई है। भगवान ने कहा—'श्रामण्य का सार उपशम है। उपशम जो है वही श्रामण्य है।'

सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य की आराधना जो है वही जैन धर्म है। अनेकांत, अनाग्रह और अध्यात्म का विचार जो है वही जैन-दर्शन है। अहिंसा, अपरिग्रह और अभय की साधना जो है, वही जैन दर्शन का मुक्ति-मार्ग है।

विश्वमैत्री का मार्ग यही है। वैयक्तिक दुर्बलताओं को जीते बिना विजय नहीं। विजय के बिना शांति और अखंड आनंद की उपलब्धि नहीं।

—आचार्यश्री तुलसी

जन्म कल्याणक
29 अक्टूबर, 2000
कार्तिक शुक्ला द्वितीया, 2057
अभिवंदना

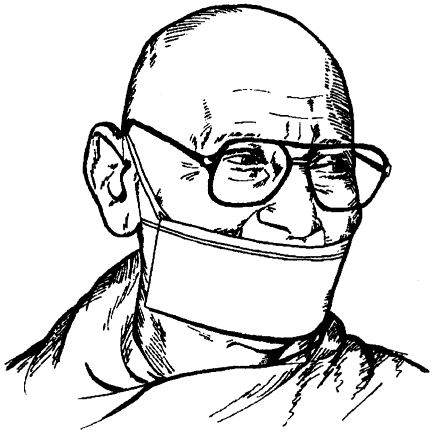

जीवन और मरण—नियति की शृंखला की दो कड़ियां हैं। जीना स्वाभाविक है, मरना स्वाभाविक है। जीने का अपना मूल्य है और मरने का अपना मूल्य। जीने के साथ अनेक स्वार्थ जुड़े होते हैं, इसलिए वह हर आदमी को अच्छा लगता है। मरना स्वार्थ से परे है, इस दुनिया से भी परे है इसलिए वह अच्छा नहीं लगता।

अनुश्रुति है कि महावीर के समवसरण में एक अलौकिक घटना हुई। एक कोढ़ी आदमी अपनी पीब महावीर के पैरों पर मल रहा है और लयबद्ध स्वर में बोल रहा है—महावीर! मर जाओ। श्रेणिक! तुम जीते रहो। अभयकुमार! तुम चाहे मरो चाहे जीओ। कालसौकरिक! तुम न जीओ न मरो।

पहला उच्चारण बहुत अप्रिय लगा श्रेणिक को। सम्राट श्रेणिक ने महावीर से पूछा—भंते! यह कौन था? इसने ऐसी अवांछनीय बात क्यों कही?

महावीर ने कहा—श्रेणिक! यह एक दिव्य आत्मा थी। उसने जो कहा, वह बहुत सारपूर्ण है। मैं कैवल्य को प्राप्त हो चुका हूं। अब शरीर से सर्वथा पृथक् हूं, केवल शरीर में रह रहा हूं। 'महावीर मर जाओ' इस वाक्य का आशय था—अब तुम शरीर के बंधन से क्यों बंधे हो? इस बंधन से भी मुक्त हो जाओ।

श्रेणिक—भंते! मुझे क्यों कहा—तुम जीते रहो?

भगवान—मृत्यु के पश्चात् तुम्हारा यह राजसी ठाठ नहीं रहेगा। तुम निम्नगति का अनुभव करोगे। इसलिए उस दिव्य आत्मा ने कहा—तुम्हारे लिए जीना ही अच्छा है।

श्रेणिक—अभयकुमार के लिए दोनों बातें क्यों कहीं?

भगवान—यह तुम्हारा मंत्री है। यहां भी सुखी है और अगले जन्म में भी सुख का अनुभव करेगा।

श्रेणिक—कालसौकरिक के लिए दोनों का निषेध क्यों?

भगवान—वह हिंसा में लगा हुआ है इसलिए यहां भी अच्छा नहीं है, आगे भी अच्छा नहीं है।

इस प्रसंग से जीने और मरने का मूल्य समझा जा सकता है। जीना अच्छा भी है, नहीं भी है। मरना अच्छा भी है, नहीं भी है। जीने और मरने के साथ हिंसा जुड़ी हुई नहीं है। हिंसा जुड़ी हुई है मारने के साथ। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मारने का संकल्प करता है और मारता है, वह हिंसा है। हर व्यक्ति को जैसे जीने का अधिकार है वैसे ही उसे मरने का अधिकार भी है। जीने की स्वतंत्रता को जैसे नहीं छीना जा सकता, वैसे ही मरने की स्वतंत्रता को भी नहीं छीना जा सकता। यह सिद्धांत बहुत पुराना है। इसकी स्थापना हजारों वर्ष पहले हो चुकी थी।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

सच और साफगोई

अक्सर देखने में आता है कि साफगोई नापसंद की जाती है। वे लोग जो सच और साफ-साफ कहने के अभ्यस्त हैं—धीरे-धीरे अलग-थलग पड़ने लगते हैं। स्पष्टवादिता को किसी का गुण नहीं—अहंकार, हेकड़ी या अव्यावहारिकता मान लिया जाता है और धीरे-धीरे ऐसे लोग दरकिनार किए जाने लगते हैं। ठीक इसी तरह साफगोई सुनने वाले भी अब कहां रहे हैं? सच सुनना हर किसी के लिए नागवार होता जा रहा है। सहिष्णुता की हदें इतनी संकीर्ण होती चली जा रही हैं कि सच के टिकने की बहुत कम गुंजाइश बच रहती है।

ऐसा क्यों हो रहा है? सामान्य रूप से यह तो बचपन से ही सिखाया-बताया जाता है कि सत्य बोलना चाहिए। यह भी कहा जाता है कि सच बोलो—मृदु बोलो। यहां सवाल उपस्थित होता है कि सत्य कटु क्यों होता है? सत्य सत्य है, वह कटु क्यों है, मृदु क्यों है? लगता है यहीं से साफगोई या स्पष्टवादिता बाधित होनी शुरू हो जाती है और असहिष्णुता के घेरे भी यहीं से अपनी जगह बनाने लगते हैं।

जब सत्य को कटु या मृदु से परिभाषित करने लगते हैं तो क्या उसका स्वरूप खंडित नहीं होता? जो सुखकर है, हितकर है—वही मृदु है। किसी के हित की बात यदि कुछ है, तो वैसा सत्य मृदु है, पर यदि किसी के पक्ष की बात नहीं है तो वह सत्य सदैव कटु हो जाता है। जाहिर है जो पक्ष का है वही मृदुसत्य है और व्यवहार ऐसा सत्य ही बोलने की इजाजत देता है।

यह ठकुरसुहाती दशा है और दुर्भाग्य से इस समय इसी दशा का वर्चस्व है। ठकुरसुहाती कहने और सुनने वाले तो हर समाज और युग में रहे हैं और इतिहास बताता है कि इसके चलते विघटन व विग्रह की स्थितियां भी पैदा हुई हैं, लेकिन उनका शमन और दृढ़ता के साथ मुकाबला करने वाले लोग भी हुए हैं—इतिहास इसका भी साक्षी है।

इतिहास यह भी बताता है कि ऐसे लोगों का समाज में आदर होता था और वे लोग पथदर्शक भी कहलाते थे। ऐसे लोगों के न निहित स्वार्थ होते थे और न उनमें कोई भय ही होता था। वे लोग निर्भय और निर्लोभ होते थे। लेकिन आज स्थिति उलट है। लालच और भयमुक्त लोग अब विरल हैं। अब वे लोग नजर आते हैं जो स्वयं साफगोई का साहस तो नहीं रखते, पर जिनमें ऐसा माद्दा होता है, उनको भी सलाह देते हैं कि वे ऐसा क्यों करते हैं? यानी सच या साफगोई में क्या रखा है? क्यों ऐसा कर वे अपने 'दुश्मन' बढ़ाते हैं? उन्हें क्या पड़ी है जो सच बोलें? सच बोलने वाले अव्यावहारिक करार दिए जाते हैं और जाहिर है ऐसे लोग अपने लिए कई विकट स्थितियां भी स्वयं ही बना लेते हैं।

लोकहित में सच और साफ-साफ कहने का साहस जिस प्रखरता से सामने आना चाहिए और साफगोई का समाज में जैसा आदर होना चाहिए, आज वे स्थितियां तिरोहित हैं। इन्हें उजागर करने की परम जरूरत है। ऐसा होने से अनेक सामाजिक विकृतियों, अनाचार, कपट और छल से समाज मुक्त हो सकता है। आज जो विषमता व्याप्त है, उसकी वजह केवल आर्थिक असंतुलन ही नहीं है, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का पतन भी है, जिसके कारण मनुष्य होने का गौरव और उसकी गरिमा नष्ट होती है। अन्याय का प्रतिकार करने का सामर्थ्य तभी आ सकता है जब सत्य का संबल पास में हो। कोई भी समाज तभी सुदृढ़ और श्रेयस् समाज हो सकता है जब उसमें सत्य कहने और सुनने वालों का सम्मान हो, अन्यथा वह एक शेखचिल्ली समाज कहलाएगा। नैतिक और आध्यात्मिक समाज भी वही है जहां सत्य और साफगोई है।

इसी परिप्रेक्ष्य में एक दूसरा बिंदु भी विचारणीय है। हमारे शास्त्रों ने कहा है—'न सिया तोत्तगवेसए'—छिद्रान्वेषी मत बनो। जहां सच और साफगोई की बात आती है, वहां गुणग्राहकता की बात काफी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। छिद्रान्वेषण के लिए वहां अवकाश नहीं रहता। सत्य कभी भी छिद्रान्वेषी नहीं होता, पर अक्सर सत्यभाषी को या तो छिद्रान्वेषी मान लिया जाता है, अथवा सत्य के मुल्लमे में छिद्रान्वेषण की क्रिया ही प्रतीत होती है। सच या साफगोई के साथ अक्सर यह घालमेल होता रहा है। इसी के चलते सत्य की महत्ता दूषित होती है। इस दूषण को मिटाने की महती जरूरत है। धर्म और धर्मगुरु की भूमिका इस दूषण को मिटाने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो सकती है। क्योंकि सही मानी में धर्म कभी भी छिद्रान्वेषी नहीं होता। सत्य के प्रति जन-जन की आस्था तभी प्रकट हो सकती है जब उसमें छिद्रान्वेषण का घालमेल प्रतीत न हो। और तब हम कह सकते हैं कि आस्था और श्रद्धा भी उसी धर्म के प्रति प्रबल होगी जो छिद्रान्वेषण की बनिस्बत गुणग्राहकता की दृष्टि का विकास करने में सहायक होगा।

जहां प्रश्न गुणग्राहकता का आता है, वहां यह सवाल भी उपस्थित होता है कि इसकी पहचान कैसे हो? सत्य की दृष्टि ही गुणग्राहकता की पहचान का आधार हो सकती है। सत्य ही एक कसौटी है जो गुणावगुण का नीर-क्षीर कर सकता है। अतः यह जरूरी हो जाता है कि मनुष्य में सत्य-दृष्टि का विकास हो। सत्य-दृष्टि का विकास तभी संभव हो सकता है जब तटस्थ और निरपेक्ष भाव से आकलन की क्षमता पैदा हो। तटस्थ और निरपेक्ष भाव के लिए समभाव होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब सबके प्रति प्रेम और करुणा का विकास हो। महात्मा गांधी इस दिशा में हमारे लिए उत्प्रेरक हो सकते हैं। सत्य और प्रेम के उनके प्रयोग गांधी के मन में उन ब्रितानी हुक्मरानों के प्रति भी घृणा के भाव पैदा नहीं होने देते जिनके शिकंजे से देश को मुक्त कराने के लिए गांधी आंदोलनरत रहे। प्रेम और करुणा का वह पाठ गांधी ने भगवान महावीर के अहिंसा सिद्धांत से ही सीखा था। अहिंसा, प्रेम और करुणा के उसी पाठ को हृदयंगम करने की आवश्यकता है। सच और साफगोई को समाज में सुदृढ़ करने के लिए महावीर के सिद्धांतों को अमल में लाने की जरूरत है।

भगवान महावीर का निर्वाण-दिवस और उनके सिद्धांतों को पुनर्स्थापित करने में अपना जीवन खपाने वाले अणुव्रत प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी और महात्मा गांधी के जन्म-दिवस इसी माह में हैं, दीपोत्सव का पर्व भी इसी के साथ-साथ मनाएंगे, क्यों न हम उस सच को समझें-जानें जो महावीर ने बताया, गांधी और तुलसी ने जिसे जीवन में अंगीकार किया, प्रयोग किए।

सच और साफगोई के वपन की संभावना निर्मित हो सकती है यदि 'न सिया तोत्तगवेसए' हमारे लिए उद्‌बोधक बने और हम गुणग्राहकता का विकास करें।

—शुभू पटवा

विमर्श

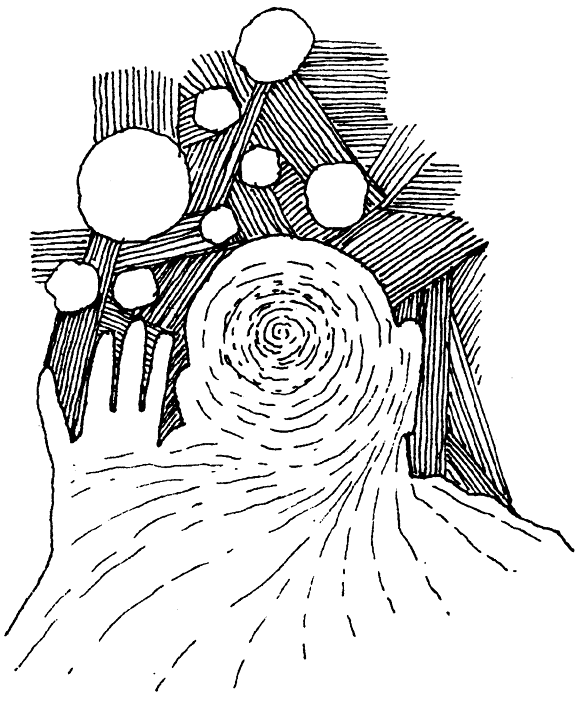

जगत मिथ्या है, जगत मिथ्या है, कहने से काम नहीं चलता। कर्म मात्र का सहसा परित्याग नहीं किया जा सकता। कर्म से हाथ खींच लेने पर भी चित्त में वासनाओं का विशाल जगत बना रहता है। जब तक यह जगत बना हुआ है तब तक कर्म से विरत होना निरर्थक है। कर्म इस प्रकार करना चाहिए कि अविद्या का बंधन क्षीण हो। देह और चित्त भले ही बंधन हों, परंतु इनको बंधन पुकारना मात्र पर्याप्त नहीं है, इनसे बंधन को ढीला करने का काम लिया जा सकता है। यदि किनारे पर खड़ा मनुष्य पानी में गिर पड़ता है तो यह सोच कर नहीं रह जाता कि मेरा पानी में गिरना मूर्खता थी, मेरा पानी से क्या संबंध, मैं तो किनारे का रहने वाला हूं। जो ऐसा सोच कर हाथ बांध लेगा उसे पानी ले डूबेगा। समझदार मनुष्य तैरता है, पानी में हाथ-पैर मारता है, पानी को ही पानी से बाहर निकलने का साधन बनाता है। तभी वह पुनः किनारे पर आ लगता है।

यदि निरर्थक कामों से विरत होकर आत्मज्ञान-साधक कामों में लगना निकम्मापन हो तो दार्शनिक निकम्मेपन का समर्थक है।

—सम्पूर्णानन्द

सामाजिक विकास में नैतिकता की जो भूमिका है यह व्यक्ति के नैतिक विकास तक ही सीमित नहीं है। तर्क के द्वारा वह परंपराओं और संस्थाओं, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं के अविवेकी नियमों और अन्याय को उद्घाटित करता है और उनके प्रयोग से समाज में व्याप्त नैतिक मानदंड को ऊंचा उठाने में सहायक होता है। उससे उन्नत उदारता और उदार सामाजिक वातावरण की सृष्टि होती है और समाज के पीड़ित लोगों में मानव-गरिमा के अनुकूल ऊंचा उठने, न्याय और समानता के लिए लड़ने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है।

धर्म-निरपेक्ष नैतिकता

❑ वी. एम. तारकुण्डे

दर्शन की यह केंद्रीय समस्या रही है कि क्या मानव स्वतंत्र और नैतिक एक साथ हो सकता है? क्या मानव, जब उसके ऊपर कोई दबाव न हो और एकदम स्वतंत्र हो तब भी स्वेच्छा से नैतिक आचरण कर सकता है? यदि मानव अपनी स्वतंत्रता पर आंच आए बिना नैतिक आचरण नहीं कर सकता तो यह कहा जाएगा कि नैतिक आचरण और स्वतंत्रता एक साथ नहीं रह सकती, दोनों का साथ असंगत है। उस दशा में नैतिक आचरण दबाव से कराया जा सकता है। एक प्रकार का दबाव कानून द्वारा लागू किया जाता है। जब कोई व्यक्ति नैतिक आचरण करके अपराध करता है अथवा कानून का उल्लंघन करता है तो उसे दंडित किया जाता है। दूसरे प्रकार का दबाव धर्म का है, उसके अनुसार जो नैतिक आचरण का उल्लंघन करता है उसे मृत्यु के उपरांत सजा मिलती है। प्रश्न यह है कि क्या व्यक्ति स्वेच्छा से बिना किसी लौकिक अथवा आध्यात्मिक भय या दबाव के नैतिक आचरण कर सकता है?

उक्त प्रश्न का उत्तर एक दूसरा प्रश्न उठाकर दिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति भय और दबाव के कारण नैतिक आचरण करता है और स्वेच्छा से वैसा नहीं करता तो क्या उसे नैतिक कहा जा सकता है? क्या ऐसा आचरण जो स्वेच्छा से नैतिक दृष्टि से नहीं किया गया, लेकिन प्रचलित नैतिकता के अनुसार उसे नैतिक कहा जा सकता है? उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति कानून द्वारा पकड़े जाने पर सजा पाने अथवा मृत्यु के बाद पापजन्य दुख भोगने के भय से अनैतिक आचरण—चोरी—नहीं करता है तो क्या उसके आचरण को नैतिक कहा जा सकता है?

उक्त प्रश्नों के नकारात्मक उत्तर मिलेंगे। किसी व्यक्ति के आचरण को तब तक नैतिक नहीं कहा जा सकता जब तक वह स्वेच्छा और बिना किसी भौतिक अथवा धार्मिक दबाव के किया गया हो। नैतिक आचरण में नैतिक भावना अथवा मानव मूल्य की भावना होनी चाहिए और उसके आधार पर नैतिक आचरण होना चाहिए। बिना आचरण के इरादा और बिना इरादे के किया गया आचरण नैतिकता नहीं है। यदि कोई व्यक्ति किसी भिखारी को कुछ पैसे देने का इरादा रखता है लेकिन देता नहीं है अथवा वह कुछ पैसे गिरा देता है जो भिखारी उठा लेता है तो उसे दान नहीं कहा जा सकता। यदि कोई व्यक्ति नैतिक भावना से नैतिक आचरण करता है तब ही उसे नैतिक कहा जा सकता है। इसका यह अर्थ है कि जब कोई व्यक्ति दबाव में कोई नैतिक आचरण करता है तब वह नैतिक नहीं होता है। शक्ति, दबाव और भय से नैतिक भावना पैदा नहीं की जा सकती। केवल स्वतंत्र व्यक्ति ही नैतिक आचरण करने की क्षमता रखता है।

अतः जिस प्रश्न का उत्तर हमें देना है वह यह नहीं है कि क्या स्वतंत्रता और नैतिकता एक साथ हो सकती हैं? विचार यह करना है कि नैतिकता की संभावना है अथवा नहीं? हम अपने दैनिक जीवन में यह बात देखते हैं कि लोग नैतिकता की भावना से आचरण करते हैं। इस नैतिक भावना का क्या आधार है? क्या यह भगवत कृपा का फल है? क्या हमारे अंतर्मन में ईश्वर की इच्छा व्याप्त है? अथवा हमारी नैतिक भावना और आत्मचेतना इस भौतिक संसार में उत्पन्न होती है?

नैतिकता का स्रोत

मानव प्राणी—समुदाय में रहने वाला प्राणी है। इस बात के बहुत-से प्रमाण हैं कि मानव के पूर्व का प्राणी भी समुदायों में रहता था (मार्गरेट नाइट के 'नैतिकता-आधिभौतिक अथवा सामाजिक' लेख, 'दि ह्यूमनिस्ट आउट लुक' में प्रकाशित, संपादक—प्रो. ए. जे. अय्यर, पैंबर्टन 1968)। समुदाय में परस्पर सहयोग से रहने की भावना उसके अस्तित्व की रक्षा की इच्छा से उत्पन्न हुई। सामुदायिक सहयोग से अन्य वन्य प्राणियों और प्राकृतिक आपदाओं से मानव की रक्षा होती थी। उसे अपने परिवार के लिए खाद्य बटोरने अथवा शिकार करने में सहायता मिलती थी। सामाजिक जीवन में ही भाषा का विकास संभव हुआ। भाषा से सूचना और ज्ञान का आदान-प्रदान करने में और भावी पीढ़ियों के लिए ज्ञान की परंपरा बनाने में सहायता मिली।

सहकारी जीवन मानव के अस्तित्व के लिए आवश्यक था। ऐसी स्थिति में उसके लिए यह स्वाभाविक था कि उसके मस्तिष्क में ऐसे गुण उत्पन्न हों जो उसके सामाजिक सहयोग की भावना के लिए सहायक हों। पहले हम यह देख चुके हैं कि मानव की ज्ञानेंद्रियां और उसका मस्तिष्क प्राणियों के विकास क्रम की उत्पत्ति है। मानव-जीवन के अस्तित्व के लिए सहकारी ढंग से रहना आवश्यक था। इससे उसकी सहज प्रक्रिया और इच्छाएं—सहानुभूति, प्रेम और सामाजिक जीवन की भावनाएं उसके मस्तिष्क में प्राकृतिक रूप से विकसित हुईं। इन्हीं बातों के आधार पर नैतिक भावना उत्पन्न होती है।

इस प्रकार इस बात में संदेह करने की गुंजाइश नहीं रहती कि नैतिक भावना मानव का प्राणीगत स्वाभाविक गुण है। चाहे जितना तगड़ा और रूखा व्यक्ति हो यदि वह एक बच्चे को एक ट्रक से कुचलता देखता है तो वह द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे अवसरों पर उसमें सहानुभूति की जो भावना उत्पन्न होती है वह सहज प्रक्रिया से होती है, किसी दूसरी भावना से नहीं। मानव की सामाजिकता इससे भी सिद्ध होती है कि उसके लिए अकेले कोठरी में रखे जाने की सजा सबसे कठोर मानी जाती है।

नैतिक आचरण का भ्रूण रूप हमें उन उच्च कोटि के पशुओं में मिलता है जो समुदायों में नहीं भी रहते हैं। पशु जगत में माता द्वारा अपने शिशु की रक्षा की सहज इच्छा प्रकट होती है। यह सभी को मालूम है कि बिल्ली अपने बिलौटों के लिए आहार की व्यवस्था करती है और बाहर लाकर एक साथ खाते हुए अपने बिलौटों को खाना सिखाती है। समुदायों में रहने वाले प्राणियों में सामाजिक सहज इच्छाएं स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती हैं। पशुओं के मनोविज्ञान के अध्ययन से छोटी-मोटी क्रांति हो गई है। यह पाया गया है कि समुदायों में रहने वाले प्राणियों में सहयोग और परोपकार का आचरण अपने जोड़े के साथ ही नहीं वरन अपनी संतति के प्रति भी होता है (मार्गरेट नाइट के उल्लिखित लेख के आधार पर)। कुछ सामुदायिक जीवों में श्रम के विभाजन का रूप भी मिलता है—जैसे चींटी और मधुमक्खियों में। इस प्रकार की सहयोगात्मक सहज प्रक्रिया का जो भ्रूण रूप मिलता है उसको चेतना के स्तर पर नैतिक आचरण कहा जा सकता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि नैतिकता का विकास प्राणीगत विकास क्रम से होता है, किसी धार्मिक आधार पर नहीं।

चार्ल्स डारविन ने अपनी पुस्तक 'दि डैसेंट आफ मैन' में लिखा है :

'मुझे इस बात की संभावना प्रतीत होती है कि किसी भी प्राणी अथवा जीव में जो सामाजिक सहज प्रक्रिया होती है जैसे माता-पिता का संतति के लिए स्नेह, मानव के विकास में बौद्धिक विकास और चेतना उत्पन्न होने पर वही नैतिक भावना बन जाती है।' (डारविन, ग्रेट बुक्स आफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड बुक 49, एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका इन्क, पृष्ठ 304)।

नैतिक मूल्य प्राकृतिक सहज नैतिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं। पहले हम यह देख चुके हैं कि आत्मचेतना, अपनी भावनाओं और विचारों की चेतना, मानव मस्तिष्क का विशिष्ट गुण है। जब कोई व्यक्ति अपने भीतर दया और प्रेम की भावना का अनुभव करता है और अपने आप से कहता है कि यह अच्छी बात है तो उस सद्वृत्ति से नैतिक मूल्य का जन्म होता है। दया, ईमानदारी, सत्य और अधिक ऊंचे स्तर पर न्याय और समानता भी नैतिक मूल्य हैं। यह वृत्तियां इसलिए नैतिक हैं क्योंकि ये सहयोगात्मक सामाजिक अस्तित्व को प्रोत्साहित करती हैं। नैतिकता, सहज नैतिक प्रक्रिया और मानव मूल्य से प्रभावित आचरण कही जा सकती है।

प्राणियों के विकास क्रम में मानव में दूसरी सहज भावनाओं का विकास होता है, जैसे क्रोध और अपने कथन पर जोर डालने की प्रवृत्ति, ये भावनाएं व्यक्तिगत अस्तित्व में सहायक होती हैं। प्रायः इस प्रकार की भावनाएं सद्वृत्तियों के विरुद्ध होती हैं। मानव प्राणी में प्रतिस्पर्द्धा और अहंकार की भावना रहती है, साथ ही साथ उनमें सहयोग, परोपकार आदि की वृत्तियां होती हैं। नैतिक विकास में प्रतिस्पर्द्धा और अहंकार की वृत्ति को सहयोग और परोपकार की भावना के नीचे कर दिया जाता है।

व्यक्ति का नैतिक विकास और तर्क की भूमिका

जीवन के आरंभ में व्यक्ति का नैतिक विकास परिवार के बड़े-बूढ़े और समाज के प्रभाव से होता है। बालक का आचरण अभिभावक की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के मार्गदर्शन में होता है। इस प्रक्रिया से बालक सामाजिक नियमों को आत्मसात कर लेता है और उनके उल्लंघन के घबराता है। बड़े होने पर बाद के जीवन में सामाजिक नियमों को आत्मसात करने की प्रक्रिया जारी रहती है और समाज के बहुसंख्यक व्यक्ति सामाजिक नियमों के अनुसार आचरण करते हैं। कुछ सामाजिक नियम अन्यायपूर्ण अथवा व्यक्ति के लिए प्रतिबंधात्मक होते हैं। जातिगत भेदभाव विभिन्न समाजों में विद्यमान हैं। भारत में जात-पांत का भेदभाव है। ये समाज के अन्यायपूर्ण नियम कहे जा सकते हैं। युवकों पर वृद्धों का प्रभुत्व और स्त्रियों पर पुरुषों का प्रभुत्व व्यक्ति पर प्रतिबंधात्मक नियम कहे जा सकते हैं। व्यक्ति के नैतिक विकास पर समाज का प्रभाव सामान्य रूप से लाभप्रद होता है, लेकिन कभी-कभी वह हानिकारक और दमनात्मक भी हो जाता है।

अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं जो स्वतंत्र रूप से अपनी बुद्धि को इतना विकसित कर लेते हैं कि वे चालू नैतिक विषयों की परीक्षा करके मानव मूल्यों के आधार पर उनकी उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता समझ लेते हैं। उनकी नैतिकता विकासात्मक रूप से उनके आत्मनिर्णय पर आश्रित होती है। इस प्रकार की नैतिकता के लिए किसी बाह्य अधिकार को आत्मसात करने की आवश्यकता नहीं पड़ती वरन् अपनी आत्मचेतना के आधार पर अपनी नैतिकता को विकसित करना होता है। ऐसे व्यक्ति का आचरण सामाजिक स्वीकृति के स्थान पर आत्मस्वीकृति से मार्गदर्शन प्राप्त करता है। यह ऐसा तर्क है जिससे व्यक्ति अपने नैतिक गुणों का परिष्कार करता है।

सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता है कि तर्क व्यक्ति को नैतिक व्यक्ति के रूप में विकसित होने में सहायक नहीं होता। यह विश्वास इसलिए है कि नैतिकता को आत्मबलिदान माना जाता है। तर्क के द्वारा व्यक्ति दो विकल्पों में से एक को चुन सकता है और यह निर्णय कर सकता है कि किस प्रकार का आचरण उसके लिए लाभप्रद है। कहा जाता है कि तर्क व्यक्ति को स्वार्थ छोड़ने में सहायक नहीं होता और न वह उसे आत्मबलिदान के लिए प्रेरित करता है। इसी कारण से ईश्वर अथवा समाज के बाह्य अधिकार को आवश्यक माना जाता है जिससे व्यक्ति नैतिकतापूर्ण आचरण कर सके।

यह गलती इसलिए होती है कि यह मान लिया जाता है कि नैतिक आचरण में आत्मत्याग और आत्मबलिदान निहित है। जब कोई व्यक्ति पीड़ित और दुखी व्यक्ति को राहत पहुंचाता है तो देखने वाले को यह लगता है कि उसने त्याग किया है। लेकिन उसे अपने इस प्रकार के काम से अपनी स्वाभाविक प्रेम भावना को पूरा करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार के कार्य से उसे एक आत्मतुष्टि मिलती है। दूसरी ओर यदि वह पीड़ित व्यक्ति को आवश्यकता पड़ने पर सहायता देने में असफल रहता है तो उसकी प्राकृतिक स्वाभाविक प्रेम भावना को पूरा न कर सकने पर कष्ट और बेचैनी होती है। जब देखने वाला व्यक्ति के आचरण को आत्मत्याग समझता है, उस समय वह स्वयं आत्मविवेचन से अपने कार्य को आत्महित की भावना से किया हुआ कार्य मानता है। यही कारण है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि समुदाय में रहने वाले प्राणियों में परोपकारक व्यवहार मिलता है। नैतिकता उदार आत्महित है।

हम पहले यह देख चुके हैं कि मानव की वे सहज प्रक्रियाएं और भावनाएं जो उसके प्राणीगत विकास के अस्तित्व क्रम में विकसित होती हैं वे मानव जीवन में स्वतंत्र रूप से संतुष्टि का स्रोत बन जाती हैं। खोज की वृत्ति सत्य की खोज में रूपांतरित हो जाती है जिससे व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करके संतोष प्राप्त करता है। चाहे उसका व्यक्ति के लिए तात्कालिक उपयोग न भी हो तो भी व्यक्ति स्वतंत्र ज्ञान प्राप्त कर उससे संतोष प्राप्त करता है। इसी प्रकार सृजनात्मक वृत्ति कलाकार को अपनी कला से संतोष देती है। इसी प्रकार व्यक्ति नैतिक आचरण विकसित करके परोपकारी जीवन अपना सकता है, जिससे उसे अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध करने का संतोष होता है। इसका सबसे अच्छा वर्णन यूनानी दार्शनिक ऐपीक्यूरस ने किया है। उसने कहा, 'मैं नैतिक आचरण ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नहीं वरन् स्वयं अपने को प्रसन्न करने के लिए करता हूं।'

एक बार यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि नैतिकता उदार आत्महित ही है तो यह समझा जा सकता है कि तर्क मानव के नैतिक उदात्तीकरण में सहायक हो सकता है। इसके अतिरिक्त कि नैतिक इच्छाओं को पूरा करके व्यक्ति को संतोष के साथ उन लोगों की कृतज्ञता भी मिलती है जिनकी वह सहायता करता है। समाज में इस प्रकार के कार्य को स्वीकृति मिलती है और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसे आत्मस्वीकृति मिलती है। स्वार्थहीन नैतिक आचरण से व्यक्ति को स्वार्थपूर्ण अनैतिक आचरण की अपेक्षा कहीं अधिक संतोष मिलता है।

मानव का नैतिक आचरण अनिवार्य रूप से मानव के अपने व्यक्तिगत विवेक की क्षमता से विकसित होता है। विरोधी इच्छाओं में विवेक के द्वारा सदिच्छाओं को चुना जा सकता है। व्यक्ति अपनी पिछली गलतियों और उनके दुष्परिणामों को याद करके भविष्य में वैसी गलतियां करने से बचने का प्रयास करता है। यह प्रक्रिया बाल्य जीवन से शुरू हो जाती है और जीवन भर चलती है। आपको स्वयं यह स्मरण होगा जब पहले आपने कठोर शब्दों का प्रयोग किया हो अथवा कठोरता का व्यवहार किया हो और उसके परिणामस्वरूप आपको दुख हुआ हो, आप स्वयं उस प्रकार के आचरण की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहेंगे। इस प्रकार आत्मचेतना और चरित्र का विकास होता है।

इस प्रकार नैतिकता वस्तुगत और आत्मगत दोनों प्रकार की है। यह हम देख चुके हैं कि नैतिक आचरण मानव के सामाजिक अस्तित्व में सहयोगात्मक वृत्ति में सहायक होता है। प्राणीगत विकास प्रक्रिया से भी नैतिक भावना उत्पन्न होती है। प्राणीगत विकास प्रक्रिया में अस्तित्व की इच्छा से विवेक वस्तुगत आधार पर विकसित होता है। आत्मगत रूप से चेतना के आधार पर नैतिक भावना विवेक पर आश्रित है और उसकी सहायता से व्यक्ति विरोधी इच्छाओं में सदिच्छा का चुनाव कर अपनी चेतना और उदात्त जीवन को विकसित करने में समर्थ हो जाता है।

स्वतंत्रता की खोज मानव के प्राणीगत अस्तित्व के संघर्ष के क्रम को जारी रखना है अतः तर्क और नैतिकता दोनों स्वतंत्रता के आदर्श को प्राप्त करने में सहायक हैं। तर्क के द्वारा व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है और नैतिकता सहयोगात्मक सामाजिक अस्तित्व का अवसर देती है। विवेकी व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता और नैतिकता में अंतर्विरोध नहीं है। इसके प्रतिकूल विवेकी और नैतिक व्यक्ति संगठित समाज में स्वतंत्रतापूर्वक जीवनयापन कर सकता है।

समाज का नैतिक विकास : तर्क बनाम धर्म

सामाजिक विकास में नैतिकता की जो भूमिका है यह व्यक्ति के नैतिक विकास तक ही सीमित नहीं है। तर्क के द्वारा वह परंपराओं और संस्थाओं, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं के अविवेकी नियमों और अन्याय को उद्घाटित करता है और उनके प्रयोग से समाज में व्याप्त नैतिक मानदंड को ऊंचा उठाने में सहायक होता है। उससे उन्नत उदारता और उदार सामाजिक वातावरण की सृष्टि होती है और समाज के पीड़ित लोगों में मानव-गरिमा के अनुकूल ऊंचा उठने, न्याय और समानता के लिए लड़ने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है।

धर्म के संबंध में यह समझा जाता है कि वह व्यक्ति और समाज में नैतिकता को सुदृढ़ करने में सहायक होता है, लेकिन यथार्थ में उसकी इससे प्रतिकूल भूमिका है। यह सही है कि सभ्यता की प्रारंभिक स्थितियों का प्रभुत्व था, उस समय धर्म ने समाज में न्यूनतम नैतिक स्तर रखने और समाज को संतुलित रखने में निश्चित भूमिका अदा की। धर्म के आधार पर नैतिक नियमों का उद्दंड लोगों पर कुछ अच्छा प्रभाव पड़ा होगा। आधुनिक समय में धार्मिक उपदेशों का समाज के कुछ लोगों पर नैतिक प्रभाव ही पड़ता है। समाज में व्याप्त अनैतिकता को भी धर्म से संरक्षण मिलता है, धर्म से समाज की हानिकारक, शोषणकारी और दमनात्मक परंपराओं को भी संरक्षण मिलता है। सामाजिक बुराइयों को भी धर्म का संरक्षण मिलता है। इसके लिए व्यक्ति की नैतिकता को भी धर्म से क्षति पहुंचती है। धर्म के द्वारा तपस्या, आत्मत्याग और सहन के संबंध में भ्रामक आदर्शों की स्थापना होती है जो व्यक्ति की प्राणीगत भावनाओं के प्रतिकूल होते हैं और जिनसे आत्मगत और सामाजिक भ्रम बड़े पैमाने पर फैलते हैं।

धर्म की नकारात्मक भूमिका और तर्क की सकारात्मक भूमिका से समाज में किस प्रकार नैतिकता विकसित होती है उसके उदाहरण किसी भी देश के इतिहास में देखे जा सकते हैं। मध्ययुगीन यूरोप को इतिहास का अंधकार युग कहा जाता है, उसमें धर्म का प्रभाव सबसे अधिक था। उस समय यूरोप में मठों की स्थापना धर्म के अनुसार आचरण की देखभाल के लिए की गई थी। इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि धार्मिक मठ अनैतिकता और भ्रष्टाचार के केंद्र बन गए थे। धर्मांधता के कारण अमानवीय दंड दिया जाता था। धर्मविरोधी लोगों को लट्ठों में बांध कर फूंक दिया जाता था। जड़ धार्मिक संहिता ने प्राकृतिक नैतिक संवेदनशीलता का स्थान ग्रहण कर लिया था। फलतः जीवन में दुखी और सुविधाओं से वंचित लोगों की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता था। स्त्रियों को सामान्य रूप से चुड़ैल माना जाता था। अपराधों के लिए दंड की व्यवस्था इतनी अमानवीय थी कि व्यक्ति को चोरी के छोटे अपराध में भी मौत की सजा दी जा सकती थी। सजा देने का ढंग भी अमानवीय था। इंग्लैंड में यदि किसी व्यक्ति को मौत की सजा दी जाती थी, तो उसे सड़क पर घसीटा जाता था, उसके अंग काटे जाते थे और बाद में उसकी गर्दन काट दी जाती थी। न्याय का स्तर इतना गिरा हुआ था कि सर फ्रांसिस बैकन जैसा न्यायाधीश, जो न्यायपालिका का उच्चतम अधिकारी—लार्ड चांसलर था, घूस लेता था। बैकन को इस अपराध में सजा दी गई थी।

उसने अपने बचाव में सचाई से यह कहा था कि उसने घूस लेकर प्रचलित व्यवहार का पालन किया है। परिवार में स्त्रियों को वस्तु माना जाता था और वरिष्ठ पुरुषों के आदेशों का उन्हें पालन करना पड़ता था। राजाओं और सामंतों के मनमाने अधिकारों का समर्थन धर्म करता था। इन सब बुराइयों को उदार जागरण के बाद कम किया गया और उनको तर्क के अनुरूप बनाने का प्रयास किया गया।

भारतीय इतिहास में धर्म की भूमिका इससे भिन्न नहीं रही है। धर्म ने जात-पांत, ऊंच-नीच और अस्पृश्यता का समर्थन किया। अस्पृश्यता से अधिक अनैतिक व्यवहार की कल्पना करना मुश्किल है। राजाओं, सामंतों और भूस्वामियों तथा धर्माध्यक्षों द्वारा जनता के शोषण का भी धर्म ने समर्थन किया था। विधवा को पति की चिता पर जीवित जलने के लिए बाध्य किया जाता था। ठगी, जिसमें निरीह व्यक्ति की हत्या कर दी जाती थी, उसे भी धार्मिक अनुष्ठान माना जाता था। आधुनिक समय में भी बाल विवाह, विधवा के पुनर्विवाह पर प्रतिबंध और लड़कियों की शिक्षा को धर्म के प्रतिकूल माना जाता था। तर्क के आधार पर नवजागरण के परिणामस्वरूप नैतिक स्तर को ऊंचा उठाया गया। पश्चिमी देशों की तुलना में भारत में धर्म का प्रभाव अधिक है और उसी आधार पर यहां का नैतिक स्तर नीचा है।

इस समय संसार भर में नैतिक स्तर का पतन हुआ है। धार्मिक लोगों का कहना है कि धर्म में आस्था की कमी के कारण यह पतन हुआ है। तथ्य यह है कि नैतिक स्तर का पतन नहीं हुआ है लेकिन वह अपर्याप्त हो गया है। आधुनिक समाज में टैक्नालॉजी के तेजी से हुए विकास से वह अधिक जटिल हो गया है और आवश्यकता इस बात की है कि नैतिक स्तर को ऊंचा उठाया जाय। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। इसके उपचार के लिए धर्म की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी तर्क को अपनाने की आवश्यकता है।

स्वतंत्र इच्छा और निश्चयवाद

कारण-कार्य निश्चयवाद के इस संसार में क्या मानव की इच्छा स्वतंत्र हो सकती है? क्या मानव अपने लक्ष्य को स्वयं निर्धारित कर सकता है और अपनी इच्छा को दिशा प्रदान कर सकता है अथवा उसकी इच्छा उन तत्त्वों से निश्चित होती है जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है।

इस समस्या का संबंध स्वतंत्रता और धर्म-निरपेक्ष नैतिकता दोनों से है। यदि व्यक्ति में अपनी इच्छा को प्रभावित करने की शक्ति नहीं है तो उसके लिए स्वतंत्रता के आदर्श का कोई अर्थ नहीं रहता है। जिस व्यक्ति का अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं होता वह अपने भविष्य का स्वयं नियंता नहीं हो सकता। इसी भांति यदि मानव को नैतिक और अनैतिक विकल्पों का चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं है तो नैतिक आचरण न करने के दोष के लिए उसे उत्तरदाई नहीं कहा जा सकता। इच्छा की स्वतंत्रता के अभाव में मानव को उत्तरदाई नैतिक इकाई नहीं माना जा सकता।

अब हमें उक्त समस्या पर 'इच्छा की स्वतंत्रता' के एक दूसरे अर्थ की पृष्ठभूमि में विचार करना चाहिए। इच्छा की स्वतंत्रता का दूसरा अर्थ है कि इसके द्वारा मानव अपने भविष्य का निर्माण करता है। इस संबंध में यह प्रश्न उठता है कि क्या मानव की इच्छा केवल 'दृश्यमान वस्तु' का पूर्व अनुमान है और उसमें अपने आप ऐसी शक्ति नहीं है जो भविष्य की रचना कर सके? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देना चाहिए। इतिहास यह दिखाता है कि ज्ञान के विकास के साथ मानव-इच्छा अधिक शक्तिशाली होती गई है और घटनाओं को प्रभावित करने में उसकी भूमिका बढ़ गई है।

हमारे सामने यह प्रश्न भिन्न रूप में है। हमने यह देखा है कि संसार (विश्व) निश्चयवादी और नियमबद्ध है। क्या मानव-इच्छा भी इन्हीं नियमों व निश्चयवाद से प्रभावित नहीं होती है? यदि विभिन्न भौतिक शक्तियां एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और भिन्न-भिन्न दिशाओं और परिमाण में कार्य करती हैं, उनके संबंध में विज्ञान हमें उनके अंतिम रूप की शक्ति और दिशा समझने में सहायता देता है। मानव-इच्छा भी प्रकृति का अंग होने के कारण इस प्रकार के नियम से कैसे अछूती रह सकती है। उदाहरण के लिए यदि आप यह जानना चाहते हैं कि अमुक व्यक्ति एक निश्चित स्थिति में कैसा व्यवहार करेगा तो आपको उस स्थिति से जुड़े व्यक्तियों के संबंध में आवश्यक जानकारी होनी चाहिए। मानव की इच्छा और प्रकृति की जानकारी होनी चाहिए तो व्यक्ति के आचरण का अनुमान लगाया जा सकेगा। यदि व्यक्ति का आचरण इस प्रकार निश्चित हो तो क्या यह कहा जा सकेगा कि उसकी इच्छा स्वतंत्र है और जो वह कर रहा है, उसे स्वतंत्र इच्छा से कर रहा है।

इस सैद्धांतिक विवाद के बावजूद, मानव की इच्छा की स्वतंत्रता हमारा दैनिक अनुभव है। हमें यह अनुभव होता है कि किसी निश्चित अवसर पर हमें स्वतंत्रतापूर्वक सोचने और काम करने की स्वतंत्रता है। हम पुस्तक पढ़ें अथवा टेलीविजन देखें यह हम स्वयं निश्चित करते हैं। क्या यह स्वतंत्रता की भावना केवल काल्पनिक है।

इस प्रश्न का विभिन्न तरीकों से उत्तर देने का प्रयास किया जाएगा। कुछ लोग कहते हैं कि प्रकृति में जितना अनिश्चय है उसी से इच्छा की स्वतंत्रता उत्पन्न होती है। यह बात इसलिए उठी कि परमाणु के कुछ अतिसूक्ष्म कणों के आचरण को निश्चित नहीं किया जा सकता। इसका एक कारण यह भी है कि वैज्ञानिक जिन यंत्रों से उनके आचरण को जानने का प्रयास करते हैं वे भी उनको प्रभावित करते हैं। देखना यह है कि वैज्ञानिकों द्वारा परमाणु के अतिसूक्ष्म कणों के आचरण को निश्चित रूप से जानने में विफल होने से इस निष्कर्ष को कैसे उचित कहा जा सकता है। प्रकृति के अनिश्चय को वैज्ञानिक यंत्रों की त्रुटि के आधार पर स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। यह कहना संभव नहीं लगता कि प्रकृति के अनिश्चय के आधार पर यह मान लिया जाए कि इच्छा की स्वतंत्रता का आधार नहीं है। मानव-इच्छा का निर्णय यदि वह स्वतः करता है तो उसे स्वतंत्र कहा जाएगा और उसे इधर-उधर की बातों से प्रभावित नहीं माना जाएगा।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रकृति में जैसे आकस्मिकता पाई जाती है, उसी भांति इच्छा की स्वतंत्रता भी है। हमने यह देखा है कि संसार की घटनाएं आवश्यकतावश, कारण-कार्य निश्चयवाद के नियमों से और अकस्मात भी घटित होती हैं। यह इस प्रकार इसलिए होता है कि सभी घटनाएं कारण-कार्य नियम से होती हैं। एकदम दो प्रतिकूल घटनाओं का एक ही कारण नहीं हो सकता है। इच्छा की स्वतंत्रता प्रकृतिजन्य आकस्मिक घटना से उत्पन्न नहीं होती, यद्यपि मानव-इच्छा इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं का लाभ उठा सकती है। यदि वह अंधशक्तियों से बाधित हो तो मानव-इच्छा को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। आत्मनिश्चय की शक्ति के बिना मानव-इच्छा को स्वतंत्र नहीं माना जा सकता।

इच्छा की स्वतंत्रता का स्रोत हमें इस तथ्य से खोजना पड़ेगा कि मानव प्राणियों में अपनी इच्छाओं को बदलने की शक्ति है। मनुष्य के चरित्र का विकास, जैसा कि हम देख चुके हैं, विवेकपूर्ण आचरण पर निर्भर करता है, इसका यही तात्पर्य है कि मानव में अपनी इच्छा को बदलने की शक्ति है। यह प्रक्रिया बाल्य जीवन में तेज नहीं होती, लेकिन बड़े होने पर उसमें यह प्रक्रिया तेज होती है और अपनी इच्छा को बदलने की उसकी शक्ति बढ़ जाती है। बड़े होने पर मानव की इच्छा उसके बाल्य जीवन की इच्छा से भिन्न होती है। बाल्यकाल में बालक के चरित्र के निर्माण में उसके माता-पिता और अभिभावक के मार्गदर्शन का प्रभाव रहता है, लेकिन बड़े होने पर मानव की यह प्रक्रिया उसे स्वयं ही निश्चित करनी पड़ती है। वह अपने पुराने अनुभवों से सीखता है। मानव गलती करके उसका दुष्परिणाम भोगता है और अच्छा आचरण करना सीखता है। अनुभव से सीखना उसकी तर्कशक्ति से ही संभव है, अतः कहा जा सकता है कि तर्क उसकी इच्छा को मोड़ने में मुख्य प्रभाव डालता है। चरित्र निर्माण में केवल नैतिक विकास ही नहीं होता, इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है। साहस और धैर्य जैसे गुण भी, जो मानव के अच्छे जीवन के लिए किए गए संघर्ष में सहायक होते हैं, चरित्रनिर्माण की प्रक्रिया में मानव की इच्छा में निहित हो जाते हैं। मानव-इच्छा इसलिए स्वतंत्र मानी जाती है क्योंकि व्यक्ति बहुत कुछ उसको स्वयं निश्चित करता है।

उक्त वक्तव्य निश्चयवाद के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है। यदि आकस्मिकता की संभावना को अलग कर दिया जाए तो वे सभी बातें मालूम रहती हैं जिनसे व्यक्ति का स्वभाव और उसकी इच्छा की दिशा निश्चित होती है। इस आधार पर किसी स्थिति में उसके आचरण का अनुमान लगाया जा सकता है। उसकी इच्छा को स्वतंत्र कहा जाएगा चाहे अनुभव से प्राप्त ज्ञान के आधार पर भविष्य में पहले जैसी स्थिति होने पर वह भिन्न आचरण ही क्यों न करे। इस परिवर्तन का क्या कारण है? यह हो सकता है कि अनुभव के आधार पर उसकी इच्छा का स्वरूप ही बदल गया हो।

इससे उस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है, जिसमें यह पूछा जाता है कि क्या मानव अपने अनैतिक कार्यों के लिए उत्तरदाई है? मान लीजिए एक व्यक्ति लोभ के कारण चोरी करता है। अपनी इच्छा के तात्कालिक स्वभाव के कारण वह उससे भिन्न आचरण नहीं कर सकता था। फिर भी वह अपने कुकर्म के लिए उत्तरदाई है, क्योंकि वह अपने चरित्र को सुधार कर चोरी का अपराध करने से अपने को बचा सकता था। वह अपने आचरण के लिए स्वतंत्र था, अतः अपने किए हुए अपराध के लिए जिम्मेदार माना जाएगा।

इस प्रकार सामाजिक वातावरण व्यक्ति के चरित्र के विकास में सहायक होता है साथ ही व्यक्ति भी उसे बनाने में महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। मानव स्वायत्तशासी अपना नैतिक प्रतिनिधि है और वह अपने भविष्य का निर्माता है क्योंकि ज्ञान प्राप्त करने की अपनी योग्यता के अतिरिक्त उसमें अपने चरित्र को सुधारने की क्षमता है और वह अपने को एक अच्छा व्यक्ति बना सकता है।

नैतिक मूल्य पूर्णरूप से शुद्ध हैं अथवा सापेक्ष

नैतिकता के प्रश्न पर विचार करते समय यह जटिल प्रश्न सामने आता है कि क्या नैतिक मूल्य पूर्णरूप से शुद्ध हैं, जिसके कारण उनको सभी स्थितियों में लागू किया जा सकता

है अथवा वे स्थिति के अनुसार सापेक्ष हैं? क्या नैतिक नियम भिन्न स्थितियों में भिन्न हो जाते हैं अथवा वे स्थितियों से प्रभावित हुए बिना समान रूप से लागू होते हैं?

इस प्रश्न की जटिलता उस समय समाप्त हो जाती है जब नैतिक रूप से संवेदनशील मानव यह समझ लेता है कि नैतिक मूल्य सुविधा की बात नहीं हैं। मानव मूल्य अथवा नैतिक मूल्य उसके स्वभाव का हिस्सा बन जाते हैं क्योंकि वह उसे अपने लिए मूल्यवान मानता है अतः वह स्थिति के अनुसार उनका पालन करना अथवा उनका पालन न करना, मनमाने ढंग से अपना आचरण बदल नहीं सकता है। यदि नैतिक मूल्य को सापेक्ष माना जाएगा तो उसका अर्थ है कि उन्हें नहीं माना जाएगा। अतः नैतिक मूल्यों को सापेक्ष मानना कुछ न मानने के सिद्धांत के समान है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि नैतिक रूप से संवेदनशील व्यक्ति को दो मानव मूल्यों में चुनाव करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी जिनमें एक मूल्य को छोड़ने और दूसरे को अपनाया जाना परिस्थिति के अनुरूप किया जा सके। लेकिन एक अपवाद को छोड़कर दो मानव मूल्यों में से चुनाव करने की बात उठती है। यह चुनाव नैतिक मूल्य और अनैतिक मूल्य के बीच में नहीं करना है। जब व्यक्ति एक नैतिक मूल्य को परिस्थितिवश छोड़ता है तो उसे खेद होता है। वह वैसा आवश्यकतावश करता है लेकिन मजबूरी में वह उसका पालन नहीं करता है।

एक साधारण उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। एक डॉक्टर कैंसर के रोगी का इलाज करता है। मान लीजिए कि रोगी को अपने रोग की जानकारी नहीं है और डॉक्टर से पूछता है कि वह कब स्वस्थ हो जाएगा? डॉक्टर यह जानता है कि रोगी कुछ दिनों में मर जाएगा। ऐसी स्थिति में डॉक्टर को यह तय करना है कि वह रोगी को सत्य बता दे अथवा उस पर दया करके सत्य न बतलाए। जब तक यह पता न हो कि रोगी दृढ़ निश्चयी है, डॉक्टर रोगी को मानसिक कष्ट देने की बजाय झूठी बात कह सकता है। इस मामले में उसने रोगी पर दया करके, झूठ बोलकर अनैतिक कार्य नहीं किया। इस स्थिति में डॉक्टर को दया और सत्य दो नैतिक मूल्यों में से एक का चयन करना है। यदि डॉक्टर नैतिक दृष्टि से संवेदनशील प्राणी है तो उसे इस प्रकार का चयन करने में भी कष्ट होगा। वह सत्य के नैतिक मूल्य को अच्छा मानते हुए भी झूठ बोलता है। यदि दूसरे मौके पर आत्महित के विरुद्ध सत्य कथन करना पड़ता हो तो भी उसे सत्य कहना चाहिए। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से संवेदनशील मानव पूर्णरूप से शुद्ध होता है और विभिन्न स्थितियों में उसे एक अथवा दूसरे नैतिक मूल्यों का पालन करना पड़ता है जो परस्पर विरोधी होने लगे हैं।

कम्युनिस्टों का कहना है कि किसी भी समाज के नैतिक मूल्य उत्पादन के साधनों के आधार पर सम्पत्ति के संबंधों पर आश्रित होते हैं। इसका यह अर्थ है कि पूंजीवादी समाज में एक प्रकार के नैतिक मूल्य होंगे और वर्गहीन समाज में दूसरे प्रकार के नैतिक मूल्य विकसित होंगे। सोवियत रूस में भिन्न नैतिक मूल्यों का विकास 60 वर्ष के सर्वहारा शासन के बाद भी नहीं हुआ। विभिन्न प्रकार के सामाजिक संगठनों में विभिन्न नैतिक मूल्यों के सापेक्षिक महत्त्व में अंतर आ सकता है लेकिन उनका तत्त्व एक ही रहता है। चोरी का अपराध पूंजीवादी समाज में समाजवादी समाज की अपेक्षा अधिक दंडनीय माना जा सकता है, लेकिन समाजवादी समाज में भी चोरी अपराध माना जाएगा। नैतिक मूल्यों का उद्‌भव प्राणीगत विकास प्रक्रिया और विवेकपूर्ण उद्देश्य से होता है, जो मानव के सहयोगात्मक सामाजिक अस्तित्व के लिए लाभप्रद है। अतः नैतिक मूल्य मानव समाज के लिए स्थाई रूप से लाभप्रद माने जाते हैं। प्रेम, दया, सत्य, भ्रातृत्व और दूसरे नैतिक मूल्य तब तक रहेंगे जब तक मानव प्राणी सामाजिक समुदाय में रहेगा।

साध्य-साधन

नैतिकता के संबंध में एक दूसरा जटिल प्रश्न यह उठता है कि क्या अच्छे साध्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए खराब साधनों का उपयोग किया जा सकता है? इस प्रश्न में यह बात निहित है कि अच्छे लक्ष्य को खराब साधनों के प्रयोग से प्राप्त किया जा सकता है। यह बात सामान्य रूप से गलत है। या तो खराब साधनों से अच्छे लक्ष्य को प्राप्त ही नहीं किया जा सकता और खराब साधन साध्य की अच्छाई को भी प्रभावित कर सकते हैं। और तब क्या वह साध्य ऐसा रह जाएगा जिसको प्राप्त करने का प्रयास करना ठीक हो? राजनीतिक और सामाजिक साध्यों के संबंध में यह बात अधिक सही है, लेकिन व्यक्तिगत लक्ष्यों के लिए भी यह सही है।

सभी राजनीतिक लक्ष्यों की अपेक्षा समाज के गरीब लोगों की आर्थिक दशा सुधारने का लक्ष्य सबसे अधिक अच्छा हो सकता है। जो व्यक्ति इस संबंध में बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाते हैं वे गरीबों की गरीबी समाप्त करने के लिए अधिनायकवादी राजनीतिक व्यवस्था का भी समर्थन कर सकते हैं। ऐसे लोग आर्थिक सुधार के इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अधिकारों और स्वतंत्रता के लोकतांत्रिक अधिकारों का

बलिदान करने के लिए तत्पर हो जाएंगे। ऐसा होने पर व्यक्ति अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता खोने के साथ ही अच्छे आर्थिक जीवन के लिए संघर्ष करने का अधिकार भी खो देता है। यदि कुछ आर्थिक सुधार हो भी जाए तो ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जो उसे काल्पनिक बना देती हैं।

खराब साधनों के उपयोग से अच्छा लक्ष्य पाने के प्रयास का दूसरा उदाहरण सत्तामूलक राजनीति के क्षेत्र में जब देश सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा हो, उसमें मिलता है। राज्य सत्ता प्राप्त करने के लिए एक राजनीतिक दल की स्थापना की जाती है। उसका लक्ष्य जनसाधारण की हालत सुधारना है। सत्ता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दल सभी प्रकार के तरीके अपनाता है। लोगों की संकुचित मान्यताओं को बढ़ाया जाता है, वर्गगत हितों का समर्थन किया जाता है और भ्रामक लोकप्रिय नारे लगाए जाते हैं। कुछ समय बाद ऐसा दल सत्ता के भूखे सिद्धांतहीन राजनीतिज्ञों को अपनी ओर आकृष्ट करता है और जनता की भलाई करने का लक्ष्य पृष्ठभूमि में चला जाता है और सत्ता के लिए सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य ही दल का मुख्य लक्ष्य हो जाता है।

इस और इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों से यह दिखाई देता है कि अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति खराब साधनों से नहीं हो सकती। इस संबंध में कुछ अपवाद हो सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध का ज्वलंत उदाहरण है। जब नाजी सेनाएं विजय प्राप्त कर रही थीं, उस समय गांधीजी ने ब्रिटेन की जनता और वहां की सरकार से यह अपील की कि वह मानव जाति के संहार को रोकने लिए अपने हथियार डाल कर अहिंसा से अपने शत्रु का सामना करे, चाहे उससे फासिस्ट शक्ति को विजय क्यों न मिल जाए। उस सुझाव को किसी ने सुना नहीं। फासिस्ट आक्रमण ने संसार को युद्ध में झोंक दिया था और मानवसंहार फासिज्म की अंतरराष्ट्रीय विजय को रोकने के लिए आवश्यक था। यहां खराब साधन—युद्ध के प्रतिरोध में हिंसा का मार्ग—उससे अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति हुई।

पहले हम डॉक्टर का उदाहरण दे चुके हैं, जो अपने कैंसर के रोगी को मानसिक कष्ट से बचाने के लिए उससे झूठ बोलता है। डॉक्टर ने झूठ बोलकर अपने रोगी को मानसिक कष्ट से बचाकर अच्छे लक्ष्य की पूर्ति की। जीवन में इस प्रकार के नैतिक संकट की अवस्थाएं उपस्थित होती हैं। लेकिन इस प्रकार के मामलों में यह कहना सही नहीं होगा कि अच्छे लक्ष्य को पाने के लिए खराब साधनों का उपयोग किया गया। डॉक्टर के उदाहरण में असत्य का प्रयोग 'दया' के नैतिक मूल्य को पूरा करने के लिए किया गया। इस संबंध में कहा जा सकता है कि उक्त डॉक्टर ने नैतिक मूल्य से प्रेरणा लेकर असत्य का प्रयोग किया जो उस दशा में अधिक उपयुक्त था, अतः यह कहना उचित होगा कि उसने अच्छे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अच्छे साधन का ही उपयोग किया।

इस संबंध में एक अपवाद भी विचारणीय है। नैतिक दृष्टि से संवेदनशील मानव विरोधी स्थितियों में संकट की स्थिति का सामना करता है। उसे दो प्रकार के नैतिक मूल्यों में से एक का चुनाव करना पड़ता है, लेकिन उसे नैतिक और अनैतिक मूल्यों में से किसी को नहीं चुनना है। यह अपवाद उस समय उत्पन्न होता है जबकि मानव अपनी नैतिक संवेदनशीलता के बावजूद आत्मरक्षा के लिए अनैतिक कार्य करने के लिए बाध्य हो जाता है।

आत्मरक्षा जीवन का मुख्य उद्देश्य है, लेकिन वह स्वतः नैतिक लक्ष्य नहीं है। नैतिक आचरण, चाहे वे आत्मसंतोष के स्रोत हों, उसे सहयोगात्मक समाज की रक्षा की दिशा में होना चाहिए।

ऐसी बहुत कम स्थितियां आती हैं जब नैतिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति को आत्मरक्षा के लिए अनैतिक कार्य करना पड़ता है। गरीब और पीड़ित लोगों के जीवन में इस प्रकार की स्थितियां अधिक आती हैं। मान लीजिए एक क्लर्क अपने मालिक द्वारा करवंचना करने के लिए गलत हिसाब-किताब रखने के लिए बाध्य होता है। क्लर्क को यह पता है कि मालिक की मर्जी का काम न करने से उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ सकता है और महीनों ही क्या, वर्षों उसे दूसरी नौकरी नहीं मिल सकती। यदि क्लर्क नैतिक व्यक्ति है, जो मन मार कर मालिक के आदेश का पालन करता है, लेकिन यदि उसमें यह संवेदना नहीं है तो उसे वह खुशी-खुशी करता है।

उपरोक्त उदाहरण जल्दी-जल्दी नहीं उठते। हम यह पाते हैं कि नैतिक दृष्टि से कुकृत्य ज्यादातर धनी और शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए बिना किसी प्रकार के सामाजिक कल्याण की बात सोचकर करते हैं। उनके इस प्रकार के कार्य अधिक निंदनीय हैं।

इस बहस से यह मालूम होता है कि नैतिकता के प्रश्न पर कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से शुद्धतावादी नहीं हो सकता। इतना पर्याप्त है कि यदि मानव यह अनुभव करे कि नैतिक आचरण सुखी और उन्नत जीवन में आत्मसंतोष का स्रोत हैं तो व्यक्ति को नैतिक मूल्यों को कभी छोड़ना नहीं चाहिए। उसे नैतिकता के प्रतिकूल आचरण तब तक नहीं करना चाहिए जब तक उनकी आवश्यकता जीवनरक्षा के लिए अनिवार्य न हो। ❖

किसी एक पक्ष की अवहेलना कर शांति का स्वप्न साकार नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक घटक की शांति, दूसरे घटक की शांति पर निर्भर है। शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श का मात्र इतना ही आशय नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो बल्कि शांति तो समाज की रग-रग में, मानवमात्र में और यहां तक कि प्रकृति के कण-कण में व्याप्त होनी चाहिए। शांति तो सभी स्तरों पर सामंजस्य का बोलबाला है।

अहिंसा सार्वभौम का सपना

❑ डॉ. बच्छराज दूगड़

'अतीत के अनुभवों के आधार पर यदि हम भविष्य का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें मानवमात्र के दैनंदिन-जीवन में शांति और अहिंसा को अविलंब समाविष्ट कर लेना चाहिए। हममें से प्रत्येक के लिए यह उचित समय होगा जब हम युद्ध और हिंसा की संस्कृति के स्थान पर शांति और अहिंसा की संस्कृति की ओर प्रयाण करें।' यूनेस्को द्वारा ये शब्द शांति की संस्कृति के वर्ष की आवश्यकता के लिए कहे गए हैं। वस्तुतः शांति मनुष्य की चिर-प्रतीक्षित आकांक्षा है जो उसके अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए आवश्यक है।

अंतरराष्ट्रीय संबंधों में शांति का प्रश्न राजनीतिज्ञों, चिंतकों एवं सामान्य नागरिकों द्वारा अंतहीन रूप से चर्चित रहा है। वे उस मार्ग की खोज के लिए प्रयत्नशील हैं जो उन्हें युद्धों के अंत की ओर ले जाए, जिनसे हजारों वर्षों से मानवता पीड़ित रही है। अर्थात् वे अतीत की खूनी स्मृतियों तथा भविष्य के भयावह परिणामों के भय से शांति की ओर प्रयाण करना चाहते हैं। युद्ध और युद्धों के परिणाम के भय से शांति की दिशा में प्रयाण का दृष्टिकोण केवल युद्ध, समरांगण, शस्त्र व राष्ट्रों पर टिका है। जहां भी शांति का प्रश्न आता है, हम इन्हीं पर अटककर रह जाते हैं। हम शांति को केवल युद्ध व अणु शस्त्रों के संदर्भ में ही न देखें। शांति जो मानवमात्र के लिए सुरक्षा व खुशहाली लाती है, युद्ध के अभाव से कहीं अधिक है।

शांति का संबंध एक ओर व्यक्ति की विश्व-काया से है, जो प्रकृति और संस्कृति से जुड़ी है तथा उम्र, लिंग, जाति, वर्ग और राष्ट्रों में बंटी है। इस जटिलतंत्र के एक अंग द्वारा दूसरे अंग को सताया जाता है तो हम उसे प्रत्यक्ष हिंसा कह देते हैं। दूसरी ओर शांति का संबंध उस संगठन अथवा व्यवस्था से भी है जिससे अनेक राष्ट्र और समुदाय जुड़े हैं। व्यवस्था की संरचना यदि ऐसी है, जिसमें एक पक्ष, दूसरे पक्ष द्वारा संगठित रूप से सताया जाता है तो उसे हम संरचनात्मक हिंसा कह देते हैं। शांति का प्रश्न इन दोनों प्रकार की हिंसा को अल्पतम करना है। शांति के इस निषेधात्मक पक्ष के अतिरिक्त उसका विधायक पक्ष भी है जो आनंद की पराकाष्ठा है। यह पक्ष अभी कम विकसित है, क्योंकि शांति की आवाज जरा मद्धिम ही होती है।

प्राचीन भारतीय चिंतन सामान्यतः वैयक्तिक शांति पर अधिक बल देता है। इस चिंतन के अनुसार—सही व्यक्ति और सामंजस्यपूर्ण अंतरवैयक्तिक संबंध होने से शांति संभव है, भले ही व्यवस्था कितनी भी अन्यायपूर्ण और हिंसक क्यों न हो! इसके विपरीत पाश्चात्य चिंतन इस भ्रम में है कि व्यवस्था ठीक हो तो उसमें कैसे भी व्यक्ति को उसके असीमित संघर्षों के साथ एवं उसकी अंतरवैयक्तिक संबंधों की क्षमता के अभाव के बावजूद रख दिया जाए तो भी शांति स्थापित की जा सकती है। ये दोनों ही विचार मूलतः एकांगी हैं। किसी एक पक्ष की अवहेलना कर शांति का स्वप्न साकार नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक घटक की शांति, दूसरे घटक की शांति पर निर्भर है। शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श का मात्र इतना ही आशय नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो बल्कि शांति तो समाज की रग-रग में, मानवमात्र में और यहां तक कि प्रकृति के कण-कण में व्याप्त होनी चाहिए। शांति तो सभी स्तरों पर सामंजस्य का बोलबाला है।

प्रथम विश्व युद्ध के पहले अधिकांश राजनीतिज्ञ एवं नागरिक स्थाई शांति का स्वप्न तो देखते थे, किंतु वे यह भी

मानते थे कि युद्ध सभी उच्च गुणों एवं मानव विशेषताओं के उद्भव का आधार हैं। अर्थात् उस समय युद्ध व सशस्त्र संघर्ष मानव जाति का अभिन्न अंग था। वे सैनिक सफलता को सर्वोच्च मानव उपलब्धि तथा शस्त्रों को राष्ट्र की महानता और प्रतिष्ठा का मापदंड समझते थे। अपने विश्वास के पक्ष में उनका तर्क था—मनुष्य स्वभाव से लड़ाकू पशु है तथा सत्ता और संपत्ति के अंतहीन संघर्षों में उसी का जीवन और विकास संभव है, जो योग्यतम है। इनका यह भी मानना था कि स्थाई शांति मानव उद्विकास की शक्ति के विरुद्ध है तथा शांति से मानव-योग्यता और उसकी उपलब्धियां न्यून होती चली जाएंगी। आज यह चिंतन सर्वथा बदल चुका है तथा मानव जाति यह अनुभव करने लगी है कि लड़ाइयां बहुत हो चुकीं, अब उन्हें सदा के लिए बंद कर देना होगा। लाखों-लाखों वर्षों की विकास प्रक्रिया में मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में वर्चस्व वाला प्राणी रहा है, इसलिए नहीं कि वह लड़ाकू है बल्कि इसलिए कि उसमें सहयोग की क्षमता व परहित की प्रतिभा है। शांति के उद्देश्य की ओर बढ़ने का मार्ग हमारे लिए सरल तो नहीं है, किंतु हमें उन करोड़ों लोगों की आकांक्षाएं आगे बढ़ने के लिए प्रेरित कर रही हैं जो यह समझने लगे हैं कि अब हमारे समक्ष शांति के अलावा अन्य कोई विकल्प ही नहीं है। परार्थ, सहयोग व सह-अस्तित्व ही मनुष्य के विकास की संचालक शक्ति रही है और वही उसकी सफलता का रहस्य भी होगी।

शांति की संस्कृति से हमारा तात्पर्य उन मूल्यों, अभिवृत्तियों एवं व्यवहारों से है जो जीव मात्र के लिए आदर, मानवाधिकारों के प्रति सम्मान, सर्व प्रकार की हिंसा का निषेध तथा स्वतंत्रता, न्याय, एकता, सहिष्णुता, आपसी समझ आदि के रूप में परिलक्षित होते हैं। 'शांति की संस्कृति वर्ष' के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए यूनेस्को ने कहा था—'हमें शांति, मानवाधिकार, प्रजातंत्र, सहिष्णुता और अंतरराष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा को प्रोत्साहित करना, बिना कोई अपवाद के मानवाधिकारों का संरक्षण व उनका सम्मान करना तथा सर्व प्रकार के भेदभाव को समाप्त करने के प्रयत्न करने चाहिए। ऐसे प्रयत्न हों, जिनसे समाज के सभी स्तरों पर प्रजातांत्रिक सिद्धांतों को बढ़ावा मिले, सहिष्णुता एवं सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व, गरीबी से संघर्ष, सभी की भलाई के लिए संतुलित और स्थाई विकास सुनिश्चित हो। मानवमात्र गुणवत्ता पर आधारित ऐसी जीवन शैली के लिए समर्थ बने जो मानवीय गरिमा से मेल खाती हो। हमें पर्यावरण का संरक्षण और प्रकृति का आदर भी करना होगा जिससे प्रत्येक व्यक्ति और मानवमात्र को शांति से जीवन जीने की प्रेरणा मिले।'

शांति की संस्कृति के वर्ष में हममें से प्रत्येक का दायित्व है कि हम राष्ट्रों के मध्य स्थाई शांति एवं समाज में शांति के साथ ही व्यक्ति की शांति के लिए भी कार्य करें। युद्ध का प्रारंभ मानव मस्तिष्क में होता है, इसलिए शांति की शुरुआत भी मानव मस्तिष्क से ही होगी। इस हेतु सर्वप्रथम हमारा दायित्व मानव मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने का है। मानव मस्तिष्क के प्रशिक्षण के लिए इस सदी के महान अध्यात्म योगी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक नया विचार दिया है—अहिंसा प्रशिक्षण। उनका कहना है—मानव मस्तिष्क बहुत लचीला है, उसे प्रशिक्षित कर बदला जा सकता है। उसमें पुरानी आदतों के परिष्कार एवं नई आदतों के ग्रहण की अद्भुत क्षमता है। हिंसा के स्फुल्लिंगों को प्रसुप्त कर अहिंसा के स्फुल्लिंगों को जागृत करना ही अहिंसा प्रशिक्षण का लक्ष्य है। वे अहिंसा प्रशिक्षण की एक व्यावहारिक प्रयोग विधि के विकास की अवधारणा पर बल देते हैं। जहां कुछ विद्वान मानस परिवर्तन एवं संरचनात्मक परिवर्तन अथवा व्यक्तिवादी प्रशिक्षण एवं सामूहिक प्रशिक्षण को एकल रूप में रेखांकित करते हैं वहीं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की अवधारणा एक समेकित प्रारूप के प्रस्तुतीकरण पर बल देती है। उन्होंने अहिंसा प्रशिक्षण की चार आयामी अवधारणा विकसित की है, जो मात्र व्यक्ति या मात्र समाज तक नहीं पहुंचती, वरन दोनों को एक साथ समाहित करती है। समग्रता के इन चार आयामों में हृदय परिवर्तन (मस्तिष्क परिवर्तन), दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवन-शैली परिवर्तन एवं संरचनात्मक परिवर्तन शामिल हैं।

हमारा भी यह दायित्व है कि हम अहिंसा की शक्तियों को एकजुट करें। इस हेतु आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अहिंसा समवाय की योजना रखी है। जब हिंसा और शस्त्र की शक्ति में विश्वास रखने वाले एक साथ बैठकर चिंतन कर सकते हैं तब क्या यह संभव नहीं है कि नैतिकता, संयम, अहिंसा और शांति में विश्वास रखने वाले एक साथ मिलकर शांति की संस्कृति के लिए कार्य करें। उच्छृंखल हो रही अर्थ और राज्य शक्ति पर अंकुश के लिए अहिंसा की शक्ति का निर्माण आज की आवश्यकता ही नहीं, अपरिहार्यता है।

समय हमारा पथ प्रशस्त कर रहा है। हम यदि हमारे दायित्वों का निर्वहन सम्यक् रूप से करते रहें तो 'विश्व शांति' और 'अहिंसा सार्वभौम' की युगों पुरानी हमारी कल्पना साकार रूप ले सकेगी। ❖

अनुभूति

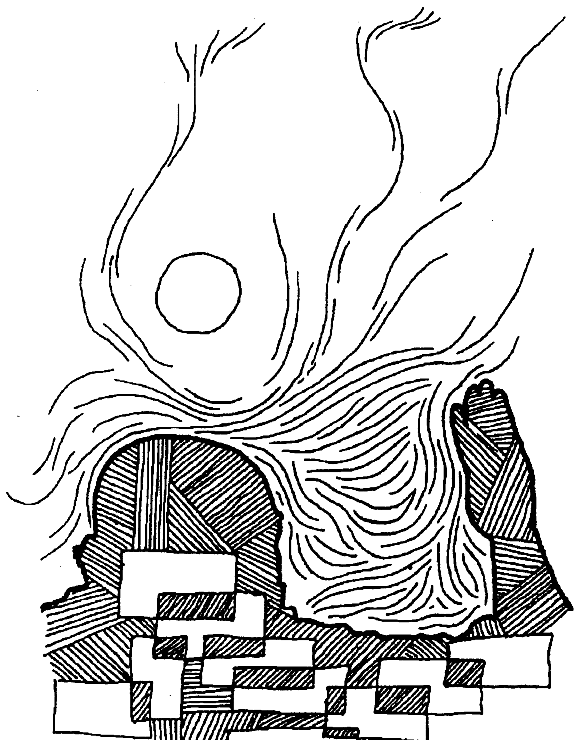

इस तरफ

वहां है प्रकाश। न तो उसे करते स्पर्श हम,
न ही उसे देखते।
उसकी रिक्त प्रांजलता, देती विभ्रांति उन्हें—
उन सारी चीजों को;
करते हैं जिनका स्पर्श हम
और जिन्हें देखते।
छूती हैं मेरी आंखें जिसको
उसे मैं उंगलियों के पोरों से देखता :

छायाएं, संसार।

साथ छायाओं के रचता संसार मैं,
बिखराता संसार उन्हीं छायाओं से।
सुनता प्रकाश की ठक-ठक दूसरी तरफ।

—**ओक्ताविओ पाज** (मैक्सिकी कवि)

रूपांतर : **प्रयाग शुक्ल**

महावीर ने जो सिद्धांत दिए, वे किसी को लक्ष्य में रखकर नहीं दिए कि अमुक वर्ग को देना है। सौभाग्य या दुर्भाग्य कुछ भी कहें, जो इतना व्यापक धर्म था, वह एक जाति के रूप में बदल गया यानी जैन एक जाति बन गई। जैन कोई जाति नहीं हो सकती। एक मुसलमान भी जैन हो सकता है, ईसाई भी जैन हो सकता है, हिंदू भी जैन हो सकता है। क्योंकि जैन कोई जाति नहीं है।

विश्वधर्म का ताबीज : सच्चंमि धिइं कुव्वहा

❑ **आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

भगवान महावीर का जीवन साधना का जीवन था। उन्हें दीर्घतपस्वी कहा जाता है। अपनी तपस्या के द्वारा उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया। भगवान ने सत्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया और सत्य ही उनका परम तत्त्व रहा। सत्य की जिज्ञासा इतनी प्रबल प्रज्वलित थी कि महावीर और सत्य—दोनों पर्यायवाची शब्द बन गए। महावीर यानी सत्य, सत्य यानी महावीर। यदि महावीर में सत्य का आग्रह नहीं होता तो वे वीर होते, किंतु उनका वीरत्व और पराक्रम दूसरों के संहार में ही खप जाता, जबकि महावीर का सारा पराक्रम, शक्ति और विक्रम सत्य की शोध में खपा, क्योंकि वे सत्यनिष्ठ थे। इसीलिए उन्होंने कहा—सच्चंमि धिइं कुव्वहा—पुरुष! तू सत्य में धैर्य कर। यदि सत्य को पा लिया तो तूने सब कुछ पा लिया। यदि सत्य को नहीं पाया तो तूने कुछ भी नहीं पाया।

सत्य शोध की पद्धति

सत्य की शोध के लिए उन्होंने जिस पद्धति का अनुसंधान किया, उसका नाम है—अनेकांतवाद या स्याद्वाद। भारतीय दर्शन के प्रांगण में जैन, बौद्ध और वैदिक परंपरा में अनेक विद्वान आचार्य हुए हैं। किंतु सत्य के संधान की पद्धति का सर्वांगीण निरूपण भगवान महावीर ने जिस तरह किया, वह सर्वत्र समादरणीय है। उनके निरूपण का सर्वाधिक मूल्य इसलिए है कि उन्होंने कहा—'सत्य को कहीं सीमित मत करो। संप्रदाय, जाति और वर्ग में सत्य को बांधो मत और उसे एक दृष्टि से मत देखो। जब तुम एक दृष्टि से सत्य को देखोगे तो तुम्हारा वह सत्य असत्य बन जाएगा। जब तुम सत्य को अनेक दृष्टियों से देखोगे तो तुम्हारा असत्य भी सत्य बन जाएगा।' असत्य को सत्य बनाने वाले लोग दुनिया में बहुत कम होते हैं और सत्य को असत्य बनाने वाले लोग दुनिया में बहुत होते हैं। महावीर ने जो पद्धति हमारे सामने प्रस्तुत की, उसके द्वारा असत्य को भी हम सत्य बना सकते हैं; बशर्ते कि हमारा दृष्टिकोण व्यापक हो और हम वस्तु को विविध पहलुओं से देख सकें, परख सकें। इसीलिए महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म विश्वधर्म कहा जाता है।

सर्वोदय शासन

वर्तमान युग के अनेक विचारक और दार्शनिक इस बात के लिए उत्सुक हैं कि दुनिया में एक धर्म होना चाहिए। महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उसके लिए एक महान आचार्य समंतभद्र ने लिखा—सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव—भगवन्! तुम्हारा शासन सर्वोदय है। विश्वधर्म वही हो सकता है, जो सबका उदय कर सके। जिसमें अमुक वर्ग का उदय करने की क्षमता हो, यानी जो अमुक के लिए हो, वह सर्वोदय नहीं हो सकता और जो सर्वोदय नहीं हो सकता वह विश्वधर्म की योग्यता को भी प्राप्त नहीं कर सकता। विश्वधर्म की योग्यता उसी में आ सकती है, जो किसी एक का नहीं है। यदि महावीर का धर्म केवल जैनों के लिए होता तो उसमें विश्वधर्म होने की क्षमता नहीं होती। यदि महावीर का धर्म ओसवाल, अग्रवाल, खंडेलवाल आदि जातियों के लिए है तो उसमें विश्वधर्म होने की क्षमता नहीं है। महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उस धर्म में जाति की कोई संकीर्णता, कोई प्रतिबंध नहीं है।

सबका मार्ग

जंबूस्वामी ने सुधर्मास्वामी से पूछा—'कयरे मग्गे अक्खाए'—भंते! महावीर ने कौन-सा मार्ग बतलाया है जिससे हम अपने लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं? यह मैं जानना

चाहता हूं, महावीर के तत्त्वज्ञान के उस समय के सबसे बड़े प्रवक्ता सुधर्मास्वामी थे। उन्होंने शांतभाव से कहा—'जंबू! पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—ये छह प्रकार के जीव हैं। दुनिया में इनके अतिरिक्त कोई अन्य जीव नहीं। कोई भी जीव दुख नहीं चाहता। किसी को भी दुख प्रिय नहीं है। हर प्राणी सुख चाहता है। इसलिए किसी भी जीव की हिंसा न की जाए। महावीर का यह मार्ग किसका नहीं है?'

क्या इस बात को अस्वीकार किया जा सकता है कि प्राणी-मात्र के साथ अपनी आत्मानुभूति, तादात्म्य और एकात्मकता की स्थापना किए बिना हम धार्मिक हो सकते हैं? इस जीवन में तो क्या, किसी भी जीवन में नहीं हो सकते। जब तक प्राणी-मात्र के साथ हमारी एकात्मकता की अनुभूति नहीं होती, तब तक हमारे जीवन में धर्म का बीज अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित नहीं हो सकता। धार्मिक होने की सबसे पहली शर्त है कि प्राणी-मात्र के साथ एकात्मकता की अनुभूति करना और उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना, महावीर द्वारा प्रतिपादित मार्ग यही है।

सुधर्मास्वामी से पूछा गया—महावीर ने धर्म का प्रतिपादन किनके लिए किया है? क्या अपने अनुयायियों के लिए? क्या जैनों के लिए या किसी अन्य वर्ग के लिए किया? इसका क्या उत्तर हो सकता है? महावीर ने जब धर्म का प्रतिपादन किया, तब उनका कोई अनुयायी था ही नहीं। उनकी पहली सभा में, जिसमें उन्होंने धर्म का उपदेश दिया, कोई मनुष्य भी सुनने वाला नहीं था। उन्होंने जो सत्य देखा, उसका निरूपण कर दिया। किसके लिए किया? इसके उत्तर में कहा गया—भगवान ने किसी एक प्राणी के लिए धर्म का प्रतिपादन नहीं किया, किंतु कोई प्राणी किसी प्राणी को नहीं मारे, इसलिए भगवान ने धर्म का प्रतिपादन किया।

यह है धर्म का विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण। उनका धर्म किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं है। महावीर का धर्म उस व्यक्ति के लिए है, जो किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता और किसी भी जीव को पीड़ित नहीं करता। यह महावीर का धर्म, जिसे शाश्वत तथा व्यापक धर्म कह सकते हैं, कितना सर्वोदयी है! इसीलिए यह विश्वधर्म है।

कुलकर से राजतंत्र तक

वर्तमान युग में स्वतंत्रता का जितना मूल्यांकन हुआ है, शायद पिछले किसी भी युग में नहीं हुआ। हम आदिकाल को लें। आदिकाल में मनुष्य सामाजिक नहीं था, जंगल में रहता था। जबसे वह सामाजिक बना और समाज में रहने लगा, हमारे यहां कुलकर की पद्धति शुरू हुई। शासन कौटुंबिक व्यवस्था के रूप में चलता था। कुटुंब का मुखिया सब कुछ होता था। वह यदि चाहता तो किसी को मार भी सकता था। उत्तराधिकार कुटुंब का चलता था। फिर उसका विकास हुआ तो राजतंत्र आया। राजतंत्र में राजा को सर्वाधिकार दिया गया। उसे इतने अधिकार दिए गए कि राजा को ईश्वर का रूप और अवतार मान लिया गया। राजा जो चाहता, कर सकता था। उसे सब कुछ करने का अधिकार था।

दासप्रथा का युग

आरंभ के इतिहास से लेकर राजतंत्र के इतिहास तक स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नहीं थी। स्वतंत्रता का कोई विशेष मूल्य नहीं था। हमारे यहां 'बेगार' ली जाती थी, कौटिलीय अर्थशास्त्र और जैन साहित्य में जिसे 'वेष्टि' कहा गया है। जिस व्यक्ति के मन में आया कि इससे काम लेना है, उसे दाम देने की कोई बात नहीं, मूल्य चुकाने की कोई बात नहीं, उसके जीवन-निर्वाह की चिंता की कोई बात नहीं, किंतु उससे काम लेना सरकार या राज्य का अधिकार था। अतः एक बैल से जैसे काम लिया जाता है उसी प्रकार आदमी से काम लिया जाता था। हिंदुस्तान में दासप्रथा चालू थी। आदमी आदमी को खरीद लेता था और दास बना लेता था। आज के नौकर की दास से तुलना नहीं की जा सकती। अगर आप थोड़ी-सी आंख दिखाएं तो आज का नौकर नौकरी छोड़कर जा सकता है, किंतु दास नहीं जा सकता था। दास इतना अधीन होता था कि मालिक एक कुत्ते के साथ जैसा व्यवहार कर सकता है वैसा वह दास के साथ कर सकता था। आज तो शायद वह कुत्ते को भी मार नहीं सकता, किंतु उस समय वह दास को मार सकता था। उसके नाक-कान काट लेता, जीभ निकाल लेता, जीभ पर शीशा उबालकर डाल देता। वह उसके टुकड़े-टुकड़े भी कर सकता था। एक आदमी दूसरे आदमी के साथ इतना क्रूर और निर्दय व्यवहार कर सकता था कि उसे कोई कहने वाला नहीं था। वह थी परतंत्रता की स्थिति। आदमी इतना परतंत्र था कि कुछ बोल भी नहीं सकता था।

आज कितना विकास हुआ है। पराधीनता कितनी समाप्त हो गई है। आज बड़े-से-बड़ा शासक भी खुला अत्याचार नहीं कर सकता। छिप कर करता है तो भी इतनी तीव्र आलोचना और भर्त्सना होती है कि उसे कभी अपना त्यागपत्र देने के लिए भी बाध्य होना पड़ जाता है।

स्वतंत्रता पर बल

जनतंत्र की विशेषता—स्वतंत्रता ही है। स्वतंत्रता पर भगवान महावीर ने जितना बल दिया, मैं समझता हूं उतना

अन्यत्र कम मिलेगा। भगवान महावीर का मूल प्रतिपादन था—'पुढ़ो सत्ता' यानी हर व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है। तुम्हें दूसरे की स्वतंत्रता को कुचलने का कोई अधिकार नहीं है। बाप को यह अधिकार नहीं कि बेटे पर वह शासन करे। महावीर ने यहां तक कह दिया—आचार्य को भी शिष्य पर बल-प्रयोग से शासन करने का अधिकार नहीं है। तेरापंथ धर्म संघ में '*इच्छाकारेण*' का प्रयोग होता है। महावीर ने कहा—'आचार्य भी शिष्य के लिए 'इच्छाकार' का प्रयोग करे। तुम्हारी इच्छा हो तो यह काम करो, न कि तुम्हें यह करना पड़ेगा।' जाहिर है स्वतंत्रता को कितना मूल्य दिया गया है। आगम-सूत्रों में महावीर कहते हैं—'अहासुहं देवाणुप्पिया'—देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो, कहीं भी नहीं कहा गया—तुम्हें यह काम करना पड़ेगा। महावीर ने व्यक्ति की स्वतंत्रता, उसकी आत्मचेतना और उसके स्वतंत्र अस्तित्व को प्रदीप्त और प्रज्वलित करने में एक ऐसा वातावरण और अवसर दिया कि व्यक्ति अपने बल पर खड़ा हो सके। बैसाखी के सहारे लंगड़ाते हुए चलने की परिस्थितियां उन्होंने किसी के लिए भी पैदा नहीं की।

महावीर की प्रमुख देन

स्वतंत्रता का जो घोष महावीर ने उद्घोषित किया, आज के जनतंत्र में क्रियान्वित हो रहा है। ऐतिहासिक वातावरण में कोई भी सिद्धांत जो फलित होता है या चालू होता है, उसके पीछे वर्तमान की पृष्ठभूमि होती है। महावीर गणतंत्र के युग में जन्मे थे। वह वैशाली का गणराज्य था। वैशाली का गणराज्य आज के जनतंत्र जैसा नहीं था, फिर भी वहां स्वतंत्रता का वातावरण था। उनमें राजा कोई नहीं था। मुखिया थे महाराज चेटक। सभी सामंत मिल कर राज्य की व्यवस्था करते थे। एक व्यक्ति का शासन नहीं था। उन संस्कारों में पले महावीर ने जो संस्कार दिए, उनसे उस राज्य को बल मिला, पुष्टि मिली और गणतंत्र का विकास हुआ। स्वतंत्रता महावीर की प्रमुख देन है।

समता धर्म का प्रतिपादन

महावीर ने दूसरी सबसे बड़ी बात समानता की दी। समता का विकास जितना महावीर के आस-पास हुआ और उन्होंने उस पर जितना बल दिया, वह बहुत ही स्मरणीय है। महावीर के धर्म का नाम क्या था? आज लोग कहते हैं—जैन धर्म। किंतु एक वह युग भी था, जब जैन धर्म नाम नहीं था। पुराने साहित्य में जैन धर्म जैसा नाम नहीं मिलता। महावीर के धर्म का नाम था सामायिक धर्म—समता का धर्म। सूत्रकृतांग सूत्र में बतलाया गया—'समया धम्म मुदाहरे मुणी'—महावीर ने समता धर्म का प्रतिपादन किया। उसी सूत्र में आगे बतलाया गया—एक चक्रवर्ती सम्राट दीक्षित होता है और एक चक्रवर्ती के दास का दास उससे पहले दीक्षित हो जाता है तो चक्रवर्ती का यह धर्म है कि अपने दास का दास, जो पहले दीक्षित हो चुका है, के चरणों में वह नतमस्तक हो जाए। वह यह नहीं सोचे कि मैं चक्रवर्ती इसका मालिक था और यह तो मेरे दास का भी दास था। यह सोचना विषमता की बात है। महावीर के शासन में ऐसा नहीं हो सकता। समता का यह प्रतिपादन सामायिक का प्रतिपादन है। कहा जा सकता है—जो समता को नहीं जानता, सामायिक को नहीं जानता, वह महावीर के शासन को नहीं जानता। धर्माचरण में सबसे पहला स्थान सामायिक का है। हर श्रावक के लिए विधान है कि वह सामायिक करे। साधु के लिए विधान है कि साधु वही हो सकता है, जो सामायिक करता है। मुझे नहीं मालूम कि समता की साधना करने वाली सामायिक कौन करता है या नहीं करता है? हां, रूढ़ि तो चलती है। एक मुहूर्त के लिए बैठ जाते हैं, मुखवस्त्रिका बांध लेते हैं, हाथ में प्रमार्जिनी भी ले लेते हैं। पर समता की आराधना कितनी करते हैं, इसका पता नहीं। श्रावक के लिए, हर जैन के लिए या महावीर को मानने वाले हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह कम से कम दिन में एक या दो बार समता की आराधना करे।

समता की वह आराधना आज शायद क्रियाकांड में बदल गई है। उसका हार्द छूट गया। विषमता का भाव रखने वाला कोई भी महावीर के धर्म को समझने का दावा नहीं कर सकता।

कल्पातीत व्यक्तित्व की कल्पना

यह समतावादी दृष्टिकोण, जिस पर महावीर ने विस्तार से विचार किया—गुरुदेव तुलसी ने नई शैली में प्रतिपादित करना शुरू किया। उन विचारों को थोड़ा-सा आगे बढ़ाया तो कई बंधुओं में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि ये महाराज तो साम्यवादी हो गए। मुझे लगा कि क्या महावीर के सिद्धांत तक साम्यवाद पहुंच सकता है? जिस साम्यवाद में शासन की सारी व्यवस्था एकाधिनायकवाद, 'डिक्टेटरशिप' की हो, जहां दूसरे की जुबान पर ताला लगा दिया जाता हो, क्या वहां समता की बात हो सकती है? समता की बात वहीं हो सकती है जहां व्यक्ति को इतनी उन्मुक्तता हो कि प्रतिबंध नाम की कोई चीज न रहे। आप कहेंगे कि क्या साधु के प्रतिबंध नहीं हैं? पर यह ज्ञात होना चाहिए कि साधनों की जो भूमिका महावीर ने प्रस्तुत की, उसमें एक शब्द का प्रयोग किया गया है—'कल्पातीत'। कल्पातीत यानी शासनविहीन

राज्य। कल्पातीत के लिए कोई कल्प नहीं होता। हमारी साधना की एक वह स्थिति आती है जहां शास्त्र की सारी मर्यादाएं समाप्त हो जाती हैं। हम लोग कोई काम करते हैं तो लोग कहते हैं कि शास्त्र में ऐसा लिखा है, किंतु कल्पातीत को कहने वाला नहीं है कि शास्त्र में ऐसा नहीं लिखा है। वह स्वयं शास्त्र होता है। कल्पातीत के लिए कोई वचन और नियम नहीं होता। हम लोग तो आज एक स्थान पर एक महीना रह सकते हैं। चातुर्मास में चार महीना रहते हैं। कल्पातीत एक जगह पचास वर्ष रह जाए तो उसे कोई कहने वाला नहीं है कि तुम क्यों रहे? सारी मर्यादाएं, विधान और अनुशासन समाप्त कर स्वयं के अनुशासन से ही वह स्वयं का संचालन करने वाला होता है। यह है राज्यविहीन स्थिति। यह साधना की उत्कृष्ट भूमिका है। महावीर के सिद्धांत का, क्रिया का, आचार का, साधना की पद्धति का, उन्मुक्तता का जो विकास है, वह है कल्पातीत की ओर जाने की प्रक्रिया। इस प्रकार महावीर की दूसरी सबसे बड़ी बात थी—समानता।

प्रामाणिकता

महावीर की तीसरी बात है—प्रामाणिकता। आज महावीर के धर्म को हमने भुला दिया। महावीर के अनुयायी आज और कुछ करते हैं या नहीं पर महावीर की पूजा जरूर करते हैं। पर आपको आश्चर्य होगा कि महावीर ने कहीं भी शायद अपनी वाणी में नहीं कहा कि किसी की पूजा करो। उपासना-धर्म का उन्होंने प्रतिपादन नहीं किया। उन्होंने केवल आचार-धर्म का, नीति-धर्म का प्रतिपादन किया। यदि नैतिकता को, प्रामाणिकता और चरित्र को निकाल देंगे तो महावीर का धर्म समाप्त हो जाएगा।

उपासना तो बहुत बाद में चली है। महावीर की वाणी को हमने देखा, किंतु एक भी वाक्य नहीं मिला कि उपासना की जाए या क्रियाकांड किए जाएं। केवल आचार-धर्म और चरित्र-धर्म ही वहां प्राप्त होता है। मोक्ष के तीन मार्ग बतलाए गए हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इनमें उपासना की बात कहां है? महावीर ने स्वतंत्रता, समानता और प्रामाणिकता—ये तीन ऐसे दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत किए, जिनके आधार पर महावीर के धर्म को विश्वधर्म का रूप दिया जा सकता है। उनका सारा प्रतिपादन सबके लिए था, विश्व के लिए था। उसमें कहीं भी कोई रेखा या भेद जैसी चीज नहीं थी।

विश्वजनीन सिद्धांत

महावीर ने जो सिद्धांत दिए, वे किसी को लक्ष्य में रखकर नहीं दिए कि अमुक वर्ग को देना है। सौभाग्य या दुर्भाग्य कुछ भी कहें, जो इतना व्यापक धर्म था, वह एक जाति के रूप में बदल गया यानी जैन एक जाति बन गई। जैन कोई जाति नहीं हो सकती। एक मुसलमान भी जैन हो सकता है, ईसाई भी जैन हो सकता है, हिंदू भी जैन हो सकता है। क्योंकि जैन कोई जाति नहीं है। आचार्यश्री तुलसी बहुत बार कहते हैं कि 'जैन धर्म' को मैं जन धर्म बनाना चाहता हूं। विनोबाजी ने एक बार बहुत सुंदर कहा था कि 'जैन धर्म अपने दया, अहिंसा, प्रेम और मैत्री को व्यापक बनाकर दूसरों में खप जाए तो भी वह कोई हानि नहीं होगी।' यह बहुत सुंदर और गहरी बात थी। ये विश्वजनीन और सार्वजनीन सिद्धांत तथा इन्हें देखने की अनेकांतदृष्टि, इस सारे संदर्भ में हम विचार करें तो कि लगेगा कि महावीर का धर्म बहुत व्यापक है।

उदार दृष्टि

उस समय किसी से पूछा जाता—हमारी मुक्ति कब होगी? तो कहा जाता, 'सए सए उवट्ठाणे'—मेरे उपस्थान में आ जाओ, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी। पुनः प्रश्न होता कि तुम्हारे संप्रदाय में नहीं आएं तो? उत्तर मिलता, 'सिद्धिमेव न अन्नहा'—अन्यथा तुम्हारी सिद्धि नहीं होगी। यानी मेरे संप्रदाय में आओ तो तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा तुम्हारी मुक्ति नहीं होगी। मेरे कुएं का पानी पीओ तो तुम्हारी प्यास बुझेगी अन्यथा नहीं बुझेगी। मेरे घर में आओ तो तुम्हें प्रकाश मिलेगा, बाहर रहो तो नहीं मिलेगा।

महावीर से पूछा गया, 'भंते! क्या अन्यलिंगी यानी आपके शासन को नहीं मानने वाला, उससे बाहर भी कोई साधु या संन्यासी है? क्या वह मुक्त हो सकता है?'

महावीर ने कहा, 'हो सकता है। यदि सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र आए तो किसी भी शासन में रहकर वह मुक्त हो सकता है।' उसे 'अन्यलिंगसिद्ध' कहा गया यानी दूसरे संप्रदाय में मुक्त होने वाला।

महावीर से पूछा गया, 'क्या मुक्त होने के लिए साधु होना जरूरी है? क्या कोई गृहस्थ के वेश में मुक्त नहीं हो सकता?'

महावीर ने कहा, 'हो सकता है, यदि वास्तव में साधु बन जाए, चाहे वेश गृहस्थ का हो।' इसे 'गृहलिंगसिद्ध' कहा गया यानी गृहस्थ वेश में सिद्ध होने वाला।

महावीर से पुनः पूछा गया, 'भंते! क्या धर्म की विधिवत उपासना करने वाला ही मुक्त होता है या और भी कोई मुक्त हो सकता है?'

शेष पृष्ठ 29 पर

मनुष्य चाहता है उसका रूप नया हो। नवीनता सबको आकृष्ट करती है। आज आदमी पुराना पड़ गया है। वह सब तरह से घिसा-पिटा हो गया है। उसे काट-छांटकर ठीक करना संभव नहीं लगता। इस दृष्टि से नए मानव के जन्म की बात मन को अच्छी लगती है, पर जिस संदर्भ में मैंने नए मनुष्य की चर्चा की है, उसका संबंध उसके रंग-रूप या आकार-प्रकार से नहीं है। नए से मेरा अभिप्राय है चिंतन की नवीनता, सृजनशीलता, वर्चस्व और विधायक दृष्टिकोण वाला मानव।

परिकल्पना नए मानव की

❑ आचार्यश्री तुलसी

नए मानव के जन्म की कल्पना जितनी सुखद है, उसकी प्रक्रिया उतनी ही कठिन है। एक मां अपनी प्रथम संतान की कल्पना से रोमांचित हो उठती है, पर प्रसव की पीड़ा उसे ही सहन करनी होती है। एक दृष्टि से देखा जाए तो नए मानव का जन्म कब नहीं होता? जन्म लेने वाला हर मानव नया ही तो होता है।

एक दार्शनिक किसी गांव में गया। एक स्थान पर काफी ग्रामीण लोग खड़े थे। दार्शनिक ने पूछा, 'भाइयो! आपके गांव में कोई बड़ा आदमी जन्मा है क्या?' ग्रामीण प्रश्न सुनकर सहम गए। उनमें से एक आदमी बोला, 'भाई साहब! हमारे यहां तो सब बच्चे ही जनमते हैं, बड़ा आदमी तो कोई नहीं जन्मा।'

बिना पढ़े-लिखे ग्रामीण व्यक्ति ने जीवन का बहुत बड़ा सच उजागर कर दिया। वास्तविकता यही है कि इस संसार में जन्म के समय कोई भी बड़ा आदमी नहीं होता। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गांधी, भिक्षु आदि जितने महापुरुष हुए हैं, सबने बच्चे के रूप में ही जन्म लिया। उन्होंने पुरुषार्थ किया, उनका कर्तृत्व सामने आया और वे महापुरुष बन गए।

चर्चा जन्म या निर्माण की

मानव के जीवन का संबंध उसके जन्म से ही नहीं, निर्माण से भी जोड़ना होगा। जन्म और निर्माण दो अलग-अलग स्थितियां हैं। महाभारत का कर्ण कहता है, 'दैवायतं कुले जन्म, मदायतं तु पौरुषम्' किसी कुल में जन्म लेना भाग्य के अधीन है। मेरे अधीन है पुरुषार्थ। उसमें मैंने कोई कसर नहीं छोड़ी है। आज मेरा जो व्यक्तित्व बना है, वह मेरे पुरुषार्थ की देन है।

मनुष्य चाहता है उसका रूप नया हो। नवीनता सबको आकृष्ट करती है। आज आदमी पुराना पड़ गया है। वह सब तरह से घिसा-पिटा हो गया है। उसे काट-छांटकर ठीक करना संभव नहीं लगता। इस दृष्टि से नए मानव के जन्म की बात मन को अच्छी लगती है, पर जिस संदर्भ में मैंने नए मनुष्य की चर्चा की है, उसका संबंध उसके रंग-रूप या आकार-प्रकार से नहीं है। नए से मेरा अभिप्राय है चिंतन की नवीनता, सृजनशीलता, वर्चस्व और विधायक दृष्टिकोण वाला मानव। इन विशिष्टताओं से संपन्न मनुष्य को पैदा करना शायद किसी के वश की बात नहीं है, पर ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।

आयुर्विज्ञान में हुई नई खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'जींस' के परिवर्तन से वांछित संतान पाई जा सकती है। वैज्ञानिक, इंजीनियर, डॉक्टर, राजनेता या अभिनेता के 'जींस' का प्रक्षेप कर भावी संतान का व्यक्तित्व उसी रूप में विकसित करने की संभावना को अस्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं है। विज्ञान के प्रति किसी प्रकार का अविश्वास या दुराग्रह का भाव भी नहीं है, पर जब तक उसका व्यावहारिक रूप सामने नहीं आता, उसके बारे में अधिक नहीं सोचा जा सकता।

संभव है व्यक्तित्व का निर्माण

व्यक्तित्व निर्माण के दो घटक माने जाते हैं— वंशानुक्रम और प्रशिक्षण। 'जींस' के आधार पर व्यक्तित्व

का विकास वंशानुगत संस्कार की अहमियत प्रमाणित करता है। दूसरा घटक है प्रशिक्षण। प्रशिक्षण के द्वारा व्यक्तित्व-निर्माण का एक प्रयत्न योगक्षेम वर्ष (सन् 1989) में किया गया था। हमारा लक्ष्य था आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण का। केवल आध्यात्मिक या केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युगीन समस्याओं का समाधान नहीं खोजा जा सकता। अध्यात्म और विज्ञान की समन्वित सोच ही समाधायक हो सकती है।

अध्यात्म और विज्ञान—दोनों का लक्ष्य है सत्य की खोज। एक की खोज का आधारबिंदु है आत्मा और दूसरे की खोज का विषय है पदार्थ। दोनों का प्रस्थान अज्ञात को ज्ञात करने की दिशा में है। अध्यात्म का विकास शास्त्रों के सहारे हो सकता है, पर कोई भी पहुंचा हुआ आध्यात्मिक वहीं तक रुकता नहीं है। 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'—स्वयं सत्य खोजें—भगवान महावीर का निर्देश ही सत्य को खोजने की प्रेरणा देता है। अध्यात्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का निर्माण ही आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण है। प्रशिक्षण की प्रक्रिया समीचीन, व्यवस्थित और दीर्घकालीन हो तो उसके यथेष्ट परिणाम आ सकते हैं।

उलटा हो गया तो

कुछ व्यक्ति आनुवंशिकता पर अधिक बल देते हैं। वे प्रशिक्षण में विश्वास कम करते हैं। 'जींस' पर काम करने वाले वैज्ञानिक भी संस्कारों के संक्रमण की संभावना लेकर चल रहे हैं। इसमें कभी-कभी अवांछित भी घटित हो सकता है।

बर्नार्ड शा एक सभा में गए। वहां एक सुंदर युवती से उनकी भेंट हुई। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर युवती ने कहा—'शा! मैं आपके साथ विवाह करना चाहती हूं। मेरी आकांक्षा है कि मैं आप जैसे विद्वान और मेरे जैसे सुंदर पुत्र को जन्म दूं।' यह बात सुन 'शा' हंसते हुए बोले—'तुम्हारी आकांक्षा बहुत ऊंची है, पर इससे उलटा हो गया तो क्या होगा? तुम्हारी कल्पना के पुत्र में मेरा रूप और तुम्हारी बुद्धि आ गई तो?'

बर्नार्ड शा का चिंतन नए मानव के जन्म में भी अप्रासंगिक नहीं लगता। नए मानव के जन्म से मेरा अभिप्राय है—नए संस्कारों का निर्माण। मॉडल के रूप में एक नए संस्कारों का प्रारूप प्रस्तुत कर दिया जाए तो उसके आधार पर लाखों के निर्माण की संभावना की जा सकती है। एक दीया हजारों दीए जला सकता है तो एक संस्कारी मानव लाखों का प्रेरणास्रोत क्यों नहीं बन सकता?

नए मानव का मॉडल

नए मानव की कल्पना से ही कुछ लोगों को रोमांच हो सकता है। वे सोचते होंगे कि नया मानव कौन होगा? उसका निर्माण कैसे होगा? क्या वह अतिमानव होगा? क्या उसमें किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलता नहीं होगी? इन सब प्रश्नों में उलझे बिना ही मैं अपनी कल्पना के मानव का मॉडल यहां प्रस्तुत कर रहा हूं—

- नया मानव जातिवाद और संप्रदायवाद की सरहदों से मुक्त होगा।
- नया मानव सांप्रदायिक नहीं, धार्मिक होगा।
- नया मानव अहिंसा के प्रति आस्थाशील होगा। वह हिंसा के हथियार को तीखा नहीं करेगा।
- नया मानव लोकतंत्र की जड़ें काटेगा नहीं, वह उनको और अधिक गहराई तक पहुंचाएगा।
- नया मानव पर्यावरण को प्रदूषित नहीं करेगा, उसकी सुरक्षा के लिए जागरूक रहेगा।
- नया मानव नशे की गिरफ्त से मुक्त होगा।
- नया मानव अर्थ को जीवन का साधन मानेगा, उसे साध्य मानकर नहीं रुकेगा।
- नया मानव युगशैली के प्रवाह में नहीं बहेगा, उसकी सुचिंतित जीवनशैली होगी।

बाधा युग की नहीं, मन की

नए मानव के मॉडल पर चर्चा के दौरान कुछ लोग निराशा भरी बातें कर सकते हैं। वे सोचते हैं कि वर्तमान युग की परिस्थितियां किसी भी व्यक्ति की जीवनशैली को नहीं बदल सकतीं। यह टालने की मनोवृत्ति है, बहानेबाजी का दृष्टिकोण है। जिन लोगों को कुछ करना नहीं है, अपने आपको बदलना नहीं है, वे युग को दोष देते हैं। मनुष्य का संकल्प और पुरुषार्थ प्रबल हो तो किसी भी युग में काम किया जा सकता है। तैत्तिरीय उपनिषद में युगों को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उतिष्ठन् त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन्।।

जो सोता है, वह कलियुग है। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि सोने वाले के लिए हर युग कलियुग है। जो जागृत है, वह द्वापर है। द्वापर की देहरी पर पांव रखकर कोई सो नहीं सकता। जो उठता है, वह त्रेता है। नींद से जागकर भी जो अलसाया रहता है, वह घड़ी का 'अलार्म' सुनकर भी गिलाफ में मुंह ढककर सोने का अभिनय करता रहता है। जो

चलता है, वह सत्य को पाता है। जो चलता है, वह मंजिल तक पहुंचता है। चलना सतयुग की निशानी है। प्रमाद और निराशा से आहत व्यक्ति के लिए कोई भी युग अच्छा नहीं होता।

समय का नाम लेकर परिस्थितियों के सामने घुटने टेकने वाले व्यक्ति कभी नया निर्माण नहीं कर सकते। सही समय पर सही दिशा में किया गया पुरुषार्थ निश्चित रूप से फलदाई होगा, इस आस्था के साथ नया प्रस्थान हो। नए मानव के जन्म या निर्माण की यही प्रक्रिया है। वैयक्तिक और सामूहिक दोनों स्तरों पर एक तीव्र प्रयत्न की अपेक्षा है।

अपेक्षा है संपूर्ण शल्यक्रिया की

नवीनता के प्रसंग में एक और धारणा काम करती है। उसके अनुसार अति प्राचीन फिर नया हो जाता है। वेशभूषा, आभूषण और कुछ परंपराओं पर यह बात बहुत अंशों में लागू हो रही है। जहां तक मनुष्य का प्रश्न है, मुझे नहीं लगता कि वह पुराना हो गया इसलिए नए मानव का जन्म जरूरी हुआ है। उसके नवीनीकरण का प्रमुख हेतु है उसके चरित्र में सड़ांध का होना। चरित्र की सड़ांध एक ऐसी बीमारी है, जिसकी कोई दवा नहीं है। इसके लिए संपूर्ण शल्यक्रिया की अपेक्षा है। अन्यथा उसका संक्रमण आने वाली पीढ़ियों में भी होता रहेगा। सड़े हुए चरित्र की बीमारी को लेकर कोई भी पीढ़ी नई सदी में प्रवेश करेगी, वह स्वस्थ और शक्तिसंपन्न नहीं हो सकेगी। इसलिए नए मानव के जन्म की जरूरत है।

बीसवीं सदी की एक बड़ी त्रासदी है जीवन के शाश्वत मूल्यों का लोप। उन्हें खोजने जाएं तो कहां खोजें? ऐसी स्थिति में पुराने मूल्यों के पुनः संस्थापन की प्रतीक्षा छोड़कर नए मूल्यों को प्रतिष्ठित करना अपरिहार्य हो गया है। जिस दिन यह काम होगा, उसी दिन इस धरती पर नए मानव का जन्म हो पाएगा।

मूल्य-क्षरण का उत्कृष्ट उदाहरण

एक समय था, जब कोई व्यक्ति जुर्म करता तो सबको नया लगता था। कोई व्यक्ति सामाजिक मान-मर्यादाओं को तोड़ता तो उसकी ओर हजारों अंगुलियां उठ जाती थीं। कोई व्यक्ति अनैतिक आचरण करता तो उसे हेय दृष्टि से देखा जाता था। आज वह दृष्टि कहां खो गई? आज किसी अतिक्रमण पर उठने वाली अंगुलियों को क्या हो गया? आज किसी के अपराध पर आश्चर्य क्यों नहीं होता? परिस्थितिवश कोई व्यक्ति कभी गलत आचरण कर बैठता तो आंख उठाकर चलने की हिम्मत खो देता था। आज हत्या और तोड़फोड़ करने वाले असामाजिक तत्त्व गर्व से सीना तानकर चलते हैं। क्या यह मूल्य-क्षरण नहीं है? लिहाज, लाज, संवेदना और करुणा जैसे मानवीय मूल्यों का अकाल मानव जाति पर कहर बरपा रहा है। इस स्थिति से मनुष्य को बचाना है तो नए मानव को जन्म देना होगा। इस काम में अणुव्रत पूरा सहयोगी हो सकता है।

समय का नाम लेकर परिस्थितियों के सामने घुटने टेक देने वाले व्यक्ति कभी नया निर्माण नहीं कर सकते। सही समय पर सही दिशा में किया गया पुरुषार्थ निश्चित रूप से फलदाई होगा, इस आस्था के साथ नया प्रस्थान हो। नए मानव के जन्म या निर्माण की यही प्रक्रिया है। वैयक्तिक और सामूहिक दोनों स्तरों पर एक तीव्र प्रयत्न की अपेक्षा है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार में होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटो कॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

बाह्य व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली था, उनका आंतरिक व्यक्तित्व भी उतना ही प्रेरणादाई था। सत्य एवं गुरु के प्रति उनका आस्थाभाव और समर्पण बेजोड़ था। उनकी दैनिक डायरी में इस तथ्य को सत्यापित करने वाले अनगिन साक्ष्य हैं। उनकी सहजता और सरलता उन्हें महत्ता के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करने वाली थी। उनकी प्रशासनिक क्षमता अद्भुत थी।

मोहन महनीय व्यक्तित्व

एक शब्दचित्र

❑ साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

मेरी आंखों के सामने एक ऐसे महापुरुष की छवि है, जिनका नाम अधरों पर आते ही लाखों सिर श्रद्धा से झुक जाते हैं, हाथों की अंजलि बन जाती है और अंतर्मन में भावों की घटा उमड़ आती है। सार्वभौम व्यक्तित्व के स्वामी वे महापुरुष भारत की धरती पर उतरे, भारतीय संस्कारों में पले-पुषे, भारतीय संस्कृति में रचे-बसे, भारत के क्षितिज पर सूरज की तरह चमके और पूरे विश्व में अपना आलोक फैलाकर अंतर्धान हो गए। बीसवीं सदी के दूसरे दशक के पूर्वार्द्ध में अपनी जीवनयात्रा की सिद्धश्री लिखने वाले और आखिरी दशक के उत्तरार्द्ध में अलविदा कहने वाले वे महापुरुष 'आचार्यश्री तुलसी' नाम से पहचाने गए।

चुंबकीय व्यक्तित्व के स्वामी आचार्यश्री तुलसी के उजले आभामंडल का प्रभाव भी अप्रतिम था। उनकी आंखों का तेज अलौकिक था। वे जिस व्यक्ति की ओर नेहिल नजरें उठाकर देख लेते, वह निहाल हो जाता। उनकी दृष्टि पारदर्शी थी। उनके भौंहों की सघनता अखंड आत्मविश्वास की प्रतीक थी। उनके कानों की रचना विलक्षण थी। कानों पर उगे हुए बाल उनके शौर्य की साख भर रहे थे। उनके भाल पर चुहचुहाता पसीना प्रखर पौरुष की कहानी सुनाता था। उनके माथे पर उभरी रेखाओं में चिंतन की गंभीरता थी। उनके मस्तिष्कीय तंतुओं की सक्रियता उन्हें आशु निर्णायक के पद पर आसीन किए हुए थी। उनकी नासिका का विन्यास आकर्षक था। उनकी वाणी का जादू मनुष्य को मुग्ध कर लेता था। उनके कंठ से निकला सुरीला स्वर कोकिल के पंचम स्वर को भी अभिभूत करने वाला था। उनकी आवाज का ओज माइक को मात देने वाला था। उनके चिबुक का उभार दृढ़ निश्चय का प्रतीक था। उनके चेहरे पर हर मौसम में गुलाब खिले रहते थे।

जन्म-दिवस श्रद्धाभिवंदन

आचार्यश्री तुलसी मानवता के मसीहा थे। नैतिक मूल्यों के क्षरण से सहमी-सिकुड़ी मानवता के अस्तित्व की रक्षा का संकल्प उनके उदात्त व्यक्तित्व का सूचक था। उनके उन्नत और प्रखर कंधों पर नए मानव के निर्माण का दायित्व था। उनका विशाल वक्ष उदार चरितनायक की स्मृति दिलाने वाला था। उनकी पतली-पतली कोमल कलाइयों का सौंदर्य देव दुर्लभ था। आशीर्वाद की मुद्रा में उठा हुआ उनका हाथ दुनिया के अपरिमित वैभव को मनोहत्य लुटाने का अहसास देता था। उनकी कलात्मक अंगुलियां कलासाधना की प्रौढ़ता को अभिव्यक्ति देती थी। उनकी गति में गजब की स्फुरणा थी। उनके बढ़ते हुए कदम कभी रुकने या मुड़ने के आदी नहीं थे। जिस समय जनता के सैलाब को साथ लेकर चलते तो लहराते हुए दरिया की प्रतीति होती थी। उनकी कार्य-तत्परता उनके गतिमय व्यक्तित्व का आईना थी। उन्होंने कभी किसी भी परिस्थिति में विचलित होना नहीं सीखा था। उनका मार्गदर्शन पाने के लिए हर वर्ग के लोग उत्सुक रहते थे। इस दुनिया का बेताज बादशाह मान लिया जाए उन्हें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

बाह्य व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली था, उनका आंतरिक व्यक्तित्व भी उतना ही प्रेरणादाई था। सत्य एवं गुरु के प्रति उनका आस्थाभाव और समर्पण बेजोड़ था। उनकी दैनिक डायरी में इस तथ्य को सत्यापित करने वाले अनगिन साक्ष्य हैं। उनकी सहजता और सरलता उन्हें महत्ता के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करने वाली थी। उनकी प्रशासनिक क्षमता अद्भुत थी। उनका छह दशकों का प्रशासन काल अनुभवों और प्रयोगों के तटबंधों में

बहने वाला समय का प्रवाह था। एक प्रशासक या नेता को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा—

सक्षमः सर्वदोषघ्नः, सामञ्जस्यविधायकः।
आदेयवचनश्चापि, नेता निर्णायको मतः।।

उनकी क्षमताएं वाणी का विषय नहीं बन सकतीं। उनकी तपस्या का ताप वैयक्तिक और सामुदायिक सब प्रकार के दोषों को भस्मसात् कर देता था। विरोधी विचारों, व्यक्तियों और परिस्थितियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की कला में वे निष्णात थे। प्रत्यक्षतः उनके आदेश-निर्देश को अस्वीकार करने का साहस किसी में नहीं था। परोक्ष में आलोचक कहलाने वाले व्यक्ति भी उनका निर्देश पाकर प्रणत हो जाते थे। उनकी निर्णयशक्ति अनुपम थी। त्वरित निर्णय के प्रसंग में उन्हें अधिक सोचने की अपेक्षा नहीं रहती थी। जहां निर्णय को लंबाना आवश्यक प्रतीत होता, वहां दीर्घकालीन चिंतन के बाद ही निर्णय दिया जाता। साठ वर्षों के शासनकाल में उन्होंने कितने निर्णय लिए, उनकी गणना भी संभव नहीं है।

महाकवि कालिदास ने संपूर्ण व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुए अपने प्रसिद्ध काव्य 'रघुवंश' में लिखा है—

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता।
अलंघनीयताहेतुद्वयमेतद् मनस्विनि।।

पहाड़ में ऊंचाई होती है, पर गहराई नहीं होती। समुद्र में गहराई होती है, पर ऊंचाई नहीं होती। मनस्वी व्यक्ति में ऊंचाई भी होती है और गहराई भी होती है। इन दोनों विशेषताओं के कारण उनके व्यक्तित्व को कोई लांघ नहीं पाता।

उनका व्यक्तित्व भी ऊंचाई और गहराई की महिमा से अभिमंडित था। उनके व्यक्तित्व को छू पाना किसी के वश की बात नहीं थी। उनकी अध्यात्मनिष्ठा असाधारण थी। संघ-संचालन की महती जिम्मेदारियों के बीच जब भी उन्हें एकांत मिलता, वे अपने और धर्मसंघ के आध्यात्मिक विकास के बारे में सोचते रहते थे। उनके सौभाग्य की कोई इयत्ता नहीं थी और पुरुषार्थ की सीमा नहीं थी। इन दोनों के योग से उन्होंने अपने अंतरंग व्यक्तित्व को भी महनीय बना लिया था।

उनका जीवन बहुआयामी रहा है। साधना, शिक्षा, कला, यात्रा, सेवा, जनसंपर्क, व्यक्तित्व-निर्माण आदि क्षेत्रों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण अवदान दिए। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान उनके युग की विशिष्ट उपलब्धियां हैं। उनके जीवन और दर्शन से हमारी भावी पीढ़ियां अपरिचित न रहें, यह आज के समय की आवश्यकता है।

आज हम जिस युग में जी रहे हैं, मनुष्य के विश्वास का दीया बुझ रहा है। एक समय था, जब भारतीय चिंतन-धारा का प्रवाह इस रूप में बहता था—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणः, वृत्ततस्तु हतो हतः।।

पुरुषार्थ का प्रयोग कर वृत्त-चरित्र की सुरक्षा करो। वित्त-धन आता जाता रहता है। उसकी चिंता छोड़ो। धन से क्षीण व्यक्ति कभी क्षीण नहीं होता, किंतु जिसका चरित्र बल समाप्त हो जाता है, वह पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है।

मनुष्य सोचता है कि इस युग में नीति और चरित्र के बल पर जीवन जीना दुष्कर है। उसके विश्वास की जड़ें हिल गई हैं। ऐसे समय में अणुव्रत अनुशास्ता गुरुदेव श्री तुलसी ने विश्वास का दीया जलाने का वज्र संकल्प किया। उनके संकल्पों से प्रवाहित चिंतनधारा ने संतप्त मानव मन को शीतलता प्रदान की। उनके आत्मविश्वास की दीप्ति से प्रस्फुटित स्फुल्लिंग आज भी अविश्वास के अंधेरे में भटके लोगों को सुपथ दिखा सकते हैं। ❖

सच्चंमि धिइं कुव्वहा.......**पृष्ठ 24 का शेष**

उन्होंने कहा—'आत्मा की पवित्रता हो जाए तो विधि-विधानों की कोई जरूरत नहीं। इसके बिना भी मुक्त हो सकता है।' इस प्रकार सिद्ध होने वाले को उन्होंने 'असोच्चाकेवली' कहा। 'असोच्चाकेवली' यानी अश्रुत्वा केवली। आप आश्चर्य करेंगे कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में धर्म का एक शब्द नहीं सुना, जो व्यक्ति नहीं जानता कि धर्म किसे कहते हैं, जो धर्म की व्याख्या और परिभाषा करना नहीं जानता, वह व्यक्ति अपने जीवन में मुक्त हो जाता है, केवली और सर्वज्ञ बन जाता है।

विश्वधर्म के प्रतिपादन की क्षमता

यह दृष्टि की उदारता है। यदि कोई संकीर्ण व्यक्ति होता तो कहता—गृहस्थ जीवन में मुक्ति नहीं हो सकती। मेरे संप्रदाय के सिवाय दूसरे संप्रदाय में कोई मुक्त नहीं हो सकता और धर्म के विधि-विधानों, क्रियाकांडों को न करने वाला मुक्त नहीं हो सकता किंतु 'अन्नलिंगसिद्धे', 'गिहलिंगसिद्धे' और 'असोच्चाकेवली'—ये तीन शब्द इतने व्यापक हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि महावीर की वाणी में विश्वधर्म के प्रतिपादन की क्षमता है। ❖

इस पदार्थवादी, उपभोक्तावादी युग में तपस्या और अभिग्रह के ये प्रयोग एक चुनौती हैं, एक प्रेरणा और उद्दीपन है। आहार-संयम और अनाहार की शक्ति का निदर्शन है। अध्यात्म के इस प्रयोग में सामाजिक समस्या का समाधान भी निहित है। प्रत्येक व्यक्ति लंबी और दुष्कर तपस्या नहीं कर सकता, किंतु आहार संयम और यथाशक्य निराहार का संकल्प अवश्य कर सकता है। यह संकल्प न केवल शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक स्वास्थ्य का संवर्धन करता है, अपितु भुखमरी जैसी जटिल सामाजिक समस्या का समाधान भी इसमें निहित है।

अनाहार सूत्र की साधिका

❑ मुनि धनंजय कुमार

आहार की ऊर्जा से सभी परिचित हैं, तभी तो आहार के प्रति सभी का आकर्षण देखने को मिलता है। मनुष्य अनाहार की सामर्थ्य से परिचित नहीं है, इसलिए उनके प्रति कोई आकर्षण भी नहीं है। वह यह जानता है कि जब भूख सताए तो रोटी खा लो, भूख शांत हो जाएगी। जिस दिन भोजन नहीं मिलता, शरीर में कमजोरी और शिथिलता का अनुभव होता है, किसी कार्य में मन भी नहीं लगता। भोजन के अभाव में भगवान का भजन भी नहीं होता। इसीलिए संभवतः यह लोकोक्ति बन गई 'भूखे भजन न होई गोपाला'।

इस स्थिति का एक दूसरा पहलू भी है—यह है अनाहार का सूत्र। यदि आहार के साथ आहार-संयम न हो, अनाहार की साधना न हो तो न शक्ति का संचय हो सकता है, न स्वास्थ्य का संवर्धन हो सकता है और न दीर्घ-आयुष्य की चाह ही साकार हो सकती है। आहार से व्यक्ति जीता है, इससे भी अधिक सच यह है—व्यक्ति अनाहार से जीता है। जिस व्यक्ति ने अनाहार की शक्ति का मूल्यांकन और प्रयोग किया है, उसने स्वास्थ्य, शक्ति और दीर्घ आयुष्य का जीवन जीया है। उसका जीवन तप-साधना की आंच में कुंदन बन निखरा है।

जैन-शासन में तपस्वी और अभिग्रहधारी श्रमणों की लंबी शृंखला है। भगवान महावीर तो महान तपस्वी और दुष्कर अभिग्रह के प्रयोक्ता थे ही। राजपुत्री से दासी बनी चन्दनबाला के हाथों से भिक्षा-ग्रहण का उनका अभिग्रह विश्रुत है। पांच मास पच्चीस दिन की तपस्या के अनंतर वह अभिग्रह फलवान बना। महावीर की इसी तेजस्वी परंपरा को अनेक मुनियों-साध्वियों ने आगे बढ़ाया। वर्तमान में तेरापंथ शासन की साध्वी पन्नाजी उस तप, त्याग और अभिग्रह की यशस्वी परंपरा की एक प्रतिनिधि हैं। 'तपसण' आज उनका पर्यायवाची बन गया है। उनका जीवन महान तप और अभिग्रह का जीवंत प्रमाण है।

सभी जानते हैं कि तपस्या करना बड़ा दुष्कर है, किंतु इससे भी अधिक दुष्कर है अभिग्रह सहित तपस्या करना। तप से अनुस्यूत अभिग्रह और अभिग्रह से अनुस्यूत तप प्रबल आत्मबल से ही संभव हो सकता है। साध्वी पन्नाजी की तपस्या की यह दुर्लभ विशिष्टता है। आपका प्रत्येक तप अभिग्रह से अनुप्राणित और प्रत्येक अभिग्रह तपस्या से संवलित रहा है।

अभिग्रह एक प्रकार का विशिष्ट मानसिक संकल्प है। व्यक्ति जिस प्रकार का अभिग्रह धारण करता है, जिस रूप में उसकी पूर्ति चाहता है, यदि उसकी उसी रूप में पूर्ति हो जाती है तो अभिग्रह सफल बनता है। तपस्वी व्यक्ति के मानस में वह संकल्प इस भाषा में प्रस्फुटित होता है—'यदि ऐसी स्थितियां निर्मित होंगी तो मैं अपने तप का पारणा करूंगा। यदि ऐसा नहीं होता तो मैं तप का पारणा नहीं करूंगा।' महान तपस्वी कभी-कभी ऐसे अभिग्रह धर लेते हैं, जिन्हें सुनकर व्यक्ति रोमांचित हो जाता है और उनकी पूर्ति की गाथा को सुनकर विस्मय से अभिभूत हो उठता है। साध्वी पन्नाजी ने

अपने जीवन में ऐसे कई असामान्य और कठिन अभिग्रह धारण किए हैं, जिनकी संपूर्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती, किंतु आश्चर्य कि वैसी परिस्थितियों का निर्माण स्वतः संभव बना, जो असंभव और दुस्साध्य जैसी प्रतीत होती थीं। व्यक्ति का आत्मबल प्रबल बन जाए तो कोई भी तत्त्व असाध्य और दुर्गम नहीं रहता। स्वतः बनी ऐसी स्थितियां उनके तप और मनोबल का ही प्रतिफल कहा जा सकता है।

अभिग्रह के प्रकार

बृहत्कल्प भाष्य में मुनि के लिए भिक्षा विषयक चार प्रकार के अभिग्रहों का उल्लेख है :

द्रव्य अभिग्रह—मैं अमुक द्रव्य ग्रहण करूंगा। चम्मच, कड़छी आदि से दिया जाने वाला द्रव्य ग्रहण करूंगा आदि—इस प्रकार की प्रतिज्ञा द्रव्य-विषयक अभिग्रह है।

क्षेत्र अभिग्रह—मैं अमुक क्षेत्र अथवा अमुक-अमुक घर से भिक्षा ग्रहण करूंगा—इस प्रकार की प्रतिज्ञा क्षेत्र विषयक अभिग्रह है।

काल अभिग्रह—मैं अमुक समय में जो भिक्षा मिलेगी, उसे ग्रहण करूंगा—यह प्रतिज्ञा काल-विषयक अभिग्रह है।

भाव अभिग्रह—मैं इस प्रकार की अवस्था में भिक्षा ग्रहण करूंगा—यह प्रतिज्ञा भाव-विषयक अभिग्रह है। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत भाव-विषयक अभिग्रह के कुछ विकल्प इस प्रकार हैं :

- गाती हुई महिला भिक्षा दे तो ग्रहण करूंगा।
- हंसती अथवा रुदन करती हुई महिला भिक्षा दे तो ग्रहण करूंगा।
- वस्त्र-आभूषण से अलंकृत अथवा अनलंकृत पुरुष अथवा स्त्री भिक्षा दे तो ग्रहण करूंगा, आदि-आदि।

साध्वी पन्नाजी ने जो अभिग्रह किए हैं, वे इन चारों प्रकारों से समन्वित हैं। अभिग्रह-चेतना से निष्पन्न आपके अभिग्रहों ने अभिग्रह की अवधारणा को व्यापक क्षितिज दिया है।

अभिग्रह क्यों ?

व्यक्ति अभिग्रह क्यों करता है? कठोर संकल्प के ग्रहण का उद्देश्य क्या है ? कहा गया–तीर्थंकरों द्वारा आचीर्ण ये अभिग्रह मनोबल और सहिष्णुता की कसौटी होते हैं। मोह और मद के अपनयन के लिए व्यक्ति इन अभिग्रहों को धारण करता है। जिस व्यक्ति में जितनी सहिष्णुता और जितना मनोबल होता है, वह व्यक्ति उसी प्रकार का अभिग्रह करता है। अभिग्रह व्यक्ति के संकल्प को प्रखर बनाता है। जो व्यक्ति ऐसा अभिग्रह करता है, वह महान कर्म निर्जरा का निबंधन करता है। वस्तुतः कर्म-मल को प्रकंपित और क्षीण करने के लिए ही विशिष्ट अभिग्रह की साधना की जाती है। अभिग्रह आत्मशक्ति को प्रदीप्त करने का अभिक्रम है। जो व्यक्ति यह अभिक्रम करता है उसकी आत्मा निर्मल, विशुद्ध और निरावरण बनती चली जाती है। वह अपने भीतर छिपे ऐसे शक्तिस्रोतों को उद्घाटित कर लेता है, ऐसी उपलब्धियों और ऋद्धियों से संपन्न बन जाता है, जो दुनिया के लिए एक चमत्कार होती हैं।

अभिग्रह का पहला प्रयोग

पन्नाजी ने तप और अभिग्रह का पहला प्रयोग साध्वी बनने से पहले किया। तब आप अपने ससुराल देरासर में थीं। वैराग्य भावना का वह उत्कर्ष-काल था। आपने अपनी सास से निवेदन किया, 'मैं अष्टमाचार्य पूज्य कालूगणी के दर्शन करना चाहती हूं। आप मुझे उनके दर्शन करवाएं।' आपने निश्चय किया, 'जब तक दर्शन करवाने के लिए सास-ससुर तैयार नहीं होंगे, तब तक मैं उपवास करती रहूंगी।' भोजन के समय सास ने थाली में आपके लिए भोजन परोसा। आपने विनम्रतापूर्वक अपना संकल्प प्रकट कर भोजन करने से इंकार कर दिया। सास इस संकल्प को सुनकर अवाक् रह गई। तीन दिन बीत गए। पन्नाजी की तपस्या फली। सास ने कालूगणी के दर्शन करवाने की अनुमति प्रदान कर दी। आपका संकल्प सफल हो गया।

संकल्प का यह प्रयोग आपने जिस समय किया, उस समय आप अभिग्रह की भाषा-परिभाषा से परिचित नहीं थीं। संकल्प की सफलता ने आपके मन में नई आशा का संचार किया। अहिंसात्मक आग्रह से मनोकामनाएं फलदाई हो सकती हैं। इसी अभिग्रह-चेतना से आपका दीक्षा का मनोरथ भी साकार हुआ। दीक्षा प्राप्ति के बाद तो अभिग्रह और तप की धारा अविच्छिन्न बन गई।

तिविहार तपस्या

पन्नाजी के साध्वी-जीवन का पहला वर्ष। तपस्या के अंतःसंचित संस्कार अभिव्यक्त होने लगे। तप की भावना का उद्रेक हुआ। आपकी अंतःस्थ भावना को आकार मिला। उस वर्ष विविध तप अनुष्ठान किए। उस वर्ष आपने बावन उपवास किए। बेले से लेकर सात दिन तक की तपस्या की। दस और पंद्रह दिनों की तपस्या भी उसी वर्ष संपन्न की। वि. संवत् 1985 से 2006 तक तपस्या का यह क्रम प्रतिवर्ष चलता रहा।

साध्वी-जीवन के इन इक्कीस वर्षों में आपके 2668 (7 वर्ष 4 मास 28 दिन) दिन तपस्या में बीते। तपस्या के दिनों में आपने जल के सिवाय कुछ नहीं लिया। तप से मनोबल बढ़ा और मनोबल ने तप की भावना को निरंतर उदग्र बनाए रखा।

चौविहार तप की शुरुआत

वि. संवत् 2007 में तप की दिशा में बदलाव आया। उस वर्ष से चौविहार तप करने का संकल्प लिया। चौविहार तप का अर्थ है—आहार के साथ जल का भी परित्याग। यह एक सामान्य अवधारणा है कि व्यक्ति आहार के बिना कुछ दिन जीवित रह सकता है, पर जल के बिना नहीं। साध्वी पन्नाजी के तप अभिक्रम ने इस अवधारणा पर सचमुच एक प्रश्नचिह्न लगा दिया। जिस वर्ष चौविहार तप प्रारंभ किया, उसी वर्ष से संकल्प बन गया—'एकांतर चौविहार उपवास करना है।' उस संकल्प को अब 50 वर्ष होने आए हैं। उस दिन के बाद आपके जीवन में कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब लगातार दो दिन आहार अथवा जल ग्रहण किया हो। ऐसे संकल्प अपराजेय मनोबल वाला व्यक्ति ही कर सकता है, उन्हें सफल बना सकता है।

चौविहार तप के पहले वर्ष का विवरण भी रोमांचित करने वाला है। आपने उस वर्ष 75 उपवास, 60 बेले, 10 तेले और 3 चोले व 1 पंचोला किया। एक वर्ष में आप (75+120+30+12+5) 242 दिन तक निराहार-निर्जल रहीं। अनेक लोग वर्षीतप करते हैं। वे एक दिन खाना खाते हैं, दूसरे दिन उपवास करते हैं और वह भी तिविहार।

तपस्या का यह क्रम निरंतर प्रवर्द्धमान रहा। आपने चार चौविहार पंचरंगी, भद्रोत्तर तप, कंठी तप, धर्मचक्र तप, प्रतर तप आदि अनेक तप-अनुष्ठान किए। आछ के आधार पर आठ मास खमण, दो मासी, तीन मासी, चार मासी और छह मासी तप किए। आपके जीवन के लगभग 14,500 दिन (चौदह हजार पांच सौ दिन) तपस्या में बीते हैं।

तपस्या के पारणे के दिन भी सदा यह संकल्प रहा—'मैं दिन में एक प्रहर (एक दिन में चार प्रहर होते हैं, दिन का चौथा भाग एक प्रहर कहलाता है।) चौविहार तथा दो प्रहर तिविहार तप करूंगी।' इस प्रकार आहार के दिनों में भी तीन प्रहर निराहार रहने का व्रत प्रायः पैंतालीस वर्ष तक चलता रहा। इन वर्षों में आप दिन में दो प्रहर निराहार रहती हैं, क्योंकि आपके गुरुदेव आचार्यवर की अब यही आज्ञा है। पारणे के दिन होने वाले इस 'तीन-प्रहर' तप को यदि तपस्या के साथ गुणित किया जाए तो तपस्या के आपके दिवस साठ वर्ष को भी अतिक्रांत कर जाते हैं। अभी साध्वी पन्नाजी अपने जीवन के दशवें दशक में चल रही हैं। आयुष्य के चौरानवें वर्ष का शुभारंभ हो गया है। इस वय में भी तपस्या की धारा अब भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है।

विलक्षण तप : विलक्षण अभिग्रह

साध्वी पन्नाजी की तपस्या जितनी विलक्षण है, उतनी ही विलक्षण है अभिग्रह-चेतना। चार मास की तपस्या का प्रसंग उल्लेखनीय है—

वि. सं. 2014, कोशीवाड़ा (मेवाड़) में चातुर्मासिक प्रवास। चातुर्मास प्रारंभ होने के साथ ही साध्वी पन्नाजी ने चौमासी तप का संकल्प स्वीकार कर लिया। इधर तप, अनुष्ठान और दूसरी ओर प्रवचन, जनसंपर्क। तपस्या के इस महान अभिक्रम में भी अपना सारा कार्य स्वयं संपादित करतीं। दीर्घ तप का यह पहला प्रयोग था। आपकी अप्रमत्त दिनचर्या को देखकर सहसा आभास नहीं होता था कि आप महान तप-अनुष्ठान में लीन हैं। तप के इस प्रयोग में आपने चार महीने तक केवल आछ का सेवन किया। मेवाड़ प्रदेश के क्षेत्रों में आछ सहज सुलभ है। दही के मंथन से मक्खन अलग हो जाता है और छाछ अलग हो जाती है। उस छाछ को गर्म किया जाता है तब छाछ का पानी ऊपर आ जाता है और मूल सघन द्रव्य पदार्थ नीचे रह जाता है। जो तरल द्रव ऊपर आता है उसे आछ कहा जाता है। इसी आछ का सेवन तप के दौरान किया गया।

चार मास के तप में सात दिन अवशेष थे। तभी साध्वी पन्नाजी ने अभिग्रह धारण किया। तेरह मानसिक संकल्पों से युक्त उस अभिग्रह में दो संकल्प विशिष्ट एवं कठिन स्थिति की संकल्पना लिए हुए थे। स्तब्ध कर देने वाले इन दो अभिग्रहों में से पहला इस प्रकार था—एक सुहागिन स्त्री—जिसके गले में तिमनिया (सोने का गहना) हो, वह नाक में नथ पहने हो, किनारी के वस्त्र (ओढ़ना/ओढ़नी) ओढ़े हो, उसके हाथों में मेहंदी रची हो और वह पौषधव्रत में हो। इन सारे चिह्नों से युक्त स्त्री पारणे के लिए कहे। दूसरा अभिग्रह था—एक पुरुष—जिसके माथे पर कुंकुम का तिलक लगा हो और उस तिलक पर चावल चिपके हों, वह पारणे के लिए निवेदन करते हुए अपने हाथों से कुछ बहराए। मन के ये संकल्प (अभिग्रह) किसी भी सूरत में प्रकट नहीं किए जाते। जब तक फलीभूत न हो अभिग्रहकर्ता के ही मन में रहते हैं।

कैसे फले अभिग्रह?

ये अभिग्रह जितने विस्मित करने वाले हैं, इनकी पूर्ति की गाथा भी उतनी ही रोमांचक है।

कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी का दिन। कोशीवाड़ा से पांच किलोमीटर दूर मंदार ग्राम। एक घर में सगाई का प्रसंग। सगाई का वह कार्यक्रम मध्याह्न तक चला। उस कार्यक्रम से निवृत्त होते ही श्री भींवराजजी कच्छारा की पत्नी ने कोशीवाड़ा की ओर प्रस्थान किया। कोशीवाड़ा पहुंचते-पहुंचते संध्या हो गई। सूर्य अस्ताचल की ओर था। बहिन श्रीमती कच्छारा ने साध्वीश्री के उस समय दर्शन किए। वस्त्र बदलने का अवकाश नहीं रहा और उसी वेशभूषा में उस बहिन ने पौषध करने का निश्चय कर पौषध व्रत का प्रत्याख्यान कर लिया। समयाभाव कहें या आपके प्रबल मानसिक संकल्प की भावना का अदृश्य-अलौकिक संप्रेषण, बहिन ने उन्हीं वस्त्रों में पौषध व्रत धारण कर लिया और सूर्योदय होने पर पौषध व्रत में ही उस बहिन ने आपको पारणे का निवेदन किया। अभिग्रह का यह पहला विस्मयकारी संकल्प सफल हो गया।

माना जाता है कि दृढ़ संकल्प की ध्वनि तरंगें प्रखर होती हैं, तभी तो वैसी स्थितियों का सहज निर्माण संभव हो जाता है। अभिग्रह के दूसरे संकल्प की पूर्ति-गाथा इसका जीवंत साक्ष्य है। कोशीवाड़ा निवासी श्री भंवरलाल की शादी मृगसर कृष्णा पंचमी को होने वाली थी। वह शादी से छह दिन पहले मुंबई से कोशीवाड़ा आया। घर में अकेले पिताजी रहते थे और चतुर्दशी का दिन होने के कारण उन्होंने अष्टप्रहरी पौषध कर लिया। इसीलिए घर पर ताला लगा था। श्री भंवरलाल अपने नाना के घर चला गया। रात वहीं बिताई और प्रातःकाल वह अपने घर के लिए प्रस्थान कर रहा था कि तभी उनकी मामीजी ने प्रस्थान से पूर्व 'सीख' के रूप में मांगलिक कुंकुम का तिलक किया और तिलक पर चावल चिपका दिए। भंवरलाल घर आया, किंतु पिता तब तक घर नहीं पहुंचे थे और घर खुला नहीं था। पौषध व्रत में लीन पिताजी साध्वियों के स्थान पर ही थे। भंवरलाल ने सोचा—'मैं भी साध्वीश्री के दर्शन कर लूं।' जब उसने साध्वीश्री के दर्शन किए तो लोग पारणे के लिए आग्रहभरा निवेदन कर रहे थे। उसकी अंतःप्रेरणा भी स्फुरित हुई। भंवरलाल ने जेब से हरड़ें निकालीं और उसे दिखाते हुए साध्वीश्री से निवेदन किया—'महाराज! मेरा व्रत निपजाएं।'

कुंकुम का तिलक, तिलक पर चावल और हाथ में हरड़ें और भिक्षा लेने का आग्रह। अभिग्रह पूरा हो गया। तब साध्वी पन्नाजी ने मृगसर कृष्णा एकम को चारमासी तप का पारणा किया, दीर्घ तप का महान अनुष्ठान संपन्न हो गया।

एक साथ चार दुष्कर अभिग्रह

साध्वी पन्नाजी ने अभिग्रह के दोनों विकल्पों का प्रयोग किया है। पहला विकल्प है—पहले तपस्या की जाए और उसकी संपूर्ति साभिग्रह हो। दूसरा विकल्प है—पहले अभिग्रह किया जाए, फिर उसकी पूर्ति के लिए तपस्या की प्रतिज्ञा की जाए। तपस्या से जुड़े अभिग्रहों में पहला विकल्प प्रयुक्त हुआ है। आपने अपने जीवन में दूसरे विकल्प के भी अनेक प्रयोग किए हैं। इस संदर्भ में आपका एक आभिग्रहिक अभिक्रम मार्मिक और हृदयस्पर्शी है।

वि. सं. 2007, अनशन-लीन साध्वी गौरांजी ने भविष्यवाणी की, 'पन्नाजी महासतियांजी! आज से चौथे वर्ष आपकी लाडनूं की चाकरी होगी। गुरुदेव पहले आपकी चाकरी फरमाएंगे, फिर एक दीक्षा की आज्ञा होगी।' साध्वी पन्नाजी ने गौरांजी के इस कथन पर किंचित् दुर्बलता प्रदर्शित करते हुए कहा—'आप जैसी वीरपुत्री तो जा रही हैं, मैं किसके सहारे चाकरी करूंगी? चाकरी करने की सामग्री भी मेरे पास नहीं है।' साध्वी गौरांजी ने आपको आश्वस्त करते हुए कहा—'महाराज! सामग्री की क्या चिंता है? गुरुदेव के पास पूरी सामग्री है।'

साध्वी पन्नाजी यह सुनते ही आभ्यंतर कक्ष में गईं और एक पत्र लिखा—'आज से चौथे वर्ष लाडनूं की चाकरी मिल जाए तो ठीक, अन्यथा मैं यावज्जीवन तीन द्रव्य—रोटी, पानी और छाछ के सिवाय कुछ नहीं खाऊंगी।' इतना लिखकर वह अभिग्रह-पत्र अपनी मुखवस्त्रिका के घर में रख लिया। वे लौट कर आईं तो साध्वी गौरांजी ने कहा, 'आपने अभिग्रह तो लिया है, लेकिन काम बहुत कठिन है।' साध्वी पन्नाजी यह सुनकर विस्मित रह गईं। आपने सोचा—क्या साध्वी गौरांजी को मेरा अभिग्रह ज्ञात हो गया? साध्वी पन्नाजी इतना ही कह पाईं, 'क्या?' गौरांजी ने कहा, 'आपने जो अभिग्रह किया है, वह आपकी मुखवस्त्रिका की पर्त में है। आप कहें तो बता दूं।' पन्नाजी ने कहा, 'आप तो सब जानती हैं, पर दूसरों से न कहें।' इस अभिग्रह के साथ ही आपकी अभिग्रह-चेतना एक कसौटी पर चढ़ गई।

वि. सं. 2011, आचार्यवर (श्री तुलसी) का ब्यावर में प्रवास। पौष का महीना। गुरुदेव ने आपका चातुर्मास लाडनूं सेवाकेंद्र में घोषित कर दिया। चातुर्मास की घोषणा के अनंतर श्रावक गुलाबचन्दजी को दीक्षा स्वीकृति भी प्रदान की।

सामान्य परंपरा के अनुसार लाडनूं सेवाकेंद्र के चातुर्मास की घोषणा वसंत पंचमी के दिन की जाती है। किंतु आपका चातुर्मास पौष मास में ही घोषित हो गया। लगता है जैसे आपकी अभिग्रह-चेतना से प्रस्फुटित संकल्प की अदृश्य

ध्वनि तरंगों ने गुरुदेव के अंतःकरण का स्पर्श किया और आपका चातुर्मास नियत समय से पूर्व ही घोषित हो गया। पानी, छाछ एवं रोटी पर आजीवन रहने का संकल्प स्वतः कृतार्थ हो गया और कृतार्थ हो गई दिवंगत साध्वी गौरांजी की भविष्यवाणी।

साध्वी गौरांजी के अनशनकाल में आपने इसके अतिरिक्त तीन अभिग्रह और स्वीकार किए—1. एक साथ चार चौमासी तप हों, यदि ऐसा न हो पाए तो अकेले चार-चार मासी तप करूंगी। आपका यह अभिग्रह दूसरे चार मासी तप में सफल हो गया। वि. सं. 2017 में छह साध्वियों के एक साथ चार मासी तप हुए! 2. आपने अभिग्रह धारण किया—परिवार की कुंआरी कन्या दीक्षा ले। गुरुदेव उसे कुछ समय अपने सान्निध्य में रखें। फिर जब तक मुझे न सौंपे, तब तक चौविहार एकांतर तप करूंगी। इस अभिग्रह को संकेत लिपि में लिखकर सुरक्षित रख लिया। अभिग्रह का संकेत चार अक्षरों में निबद्ध था—प. कु. रा. मे.। इन चार अक्षरों की पूर्ति इस प्रकार थी—

प—परिवार की।

कु—कुंआरी कन्या दीक्षा ले।

रा—राज (गुरु सन्निधि) में रख।

मे—मेरे साथ भेजें।

यह अभिग्रह भी कम दुष्कर नहीं था। परिवार में उस समय तक किसी कन्या का मन दीक्षा के लिए तैयार ही नहीं था। जब तक वैराग्य-भाव जागृत न हो, व्यक्ति दीक्षा का सपना भी नहीं ले पाता। इस स्थिति में निकट भविष्य में परिवार की कोई कन्या दीक्षा ले, ऐसी संभावना भी नहीं थी। सब कुछ भविष्य के गर्भ में था। कब परिवार की किसी कन्या के मन में वैराग्य-भाव जागे? कब पारिवारिक जन उसे दीक्षा की अनुमति दें और कब गुरुदेव उसे दीक्षित करें? यह भी जरूरी नहीं कि उस दीक्षित साध्वी को गुरुदेव साध्वी पन्नाजी को ही प्रदान करें। तेरापंथ-आचार्य का तो यह विशेषाधिकार है कि वे किसी भी साधु-साध्वी को चाहे जिसके पास रखें और चाहे जिस रूप में रखें। इस स्थिति में आपके परिवार से दीक्षित कन्या आपको ही मिले, इसकी कोई गारंटी नहीं थी।

यह सब जानते हुए भी आपने इस दुष्कर अभिग्रह को धारण किया और जिस दिन यह संकल्प किया, उसी दिन से एकांतर चौविहार तप प्रारंभ कर दिया। तपस्या और संकल्पशक्ति के परमाणु संप्रेषित हुए। आपके संसारपक्षीय भतीजे श्री सोहनलालजी बुच्चा की सुपुत्री कुमारी उर्मिला के हृदय में वैराग्य के बीज प्रस्फुटित हुए। कुमारी उर्मिला के प्रवर्द्धमान वैराग्य की परिजनों ने कसौटी की, उसकी प्रबल आकांक्षा पूज्य गुरुदेव के सम्मुख प्रस्तुत की गई। गुरुदेव ने हिसार (वि. सं. 2030) में कुमारी उर्मिला को दीक्षित किया। वह साध्वी उर्मिलाकुमारी के रूप में रूपायित हो गईं।

साध्वी उर्मिलाकुमारीजी दीक्षित हो गईं, किंतु साध्वी पन्नाजी का अभिग्रह पूरा नहीं हुआ। साध्वी उर्मिला कुमारीजी दो वर्ष गुरु-सन्निधि में रहीं और मर्यादा-महोत्सव (श्रीडूंगरगढ़, वि. सं. 2032) में उन्हें साध्वी पन्नाजी को सौंप दिया। संसारपक्षीया पौत्री साध्वी उर्मिलाकुमारीजी दीर्घ तपस्विनी की सहगामिनी बन गईं।

छब्बीस वर्ष एकांतर चौविहार तपःसाधना के बाद यह तीसरा अभिग्रह भी सफल हो गया।

साध्वी पन्नाजी ने चौथा अभिग्रह इस संकल्प के साथ स्वीकार किया—'वि. सं. 2057 (वर्तमान काल) श्रावण कृष्णा अष्टमी तक आचार्यवर लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप की चौथी परिपाटी का प्रत्याख्यान कराएं। यदि ऐसा न हो पाए तो मैं यावज्जीवन चौविहार तेले-तेले तप करूंगी, प्रतिदिन तीन घंटे आतापना लूंगी। पारणे में रोटी, छाछ और पानी—इन तीन द्रव्यों के अतिरिक्त और कुछ लेने का त्याग है।'

आश्चर्य और आह्लादकारी होगा यह जानना कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने साध्वी पन्नाजी को 8 जुलाई को इस तप अनुष्ठान की स्वीकृति दे दी। आचार्यप्रवर ने श्रावण कृष्णा तृतीया (19 जुलाई, 2000) को प्रवचन के समय लगभग 11-35 बजे पर साध्वीश्री पन्नाजी को लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप की चौथी परिपाटी की उपसंपदा प्रदान की।

इस अवसर पर राजस्थानी भाषा में अपने भावपूर्ण उद्गार व्यक्त करते हुए साध्वी पन्नाजी ने कहा—

'भगवन्! आप सबकी आशा पूर्ति कराओ। तेरह साल हो गया मांगता ने पण अबै आप पूरी कराई। मैं तो छोटी बालिका हूं। संसार में केवे है कि तीजै चावल सीजै चौथे लोग पतीजे। चौथी परिपाटी अर चौथी की मांग है। इरै वास्ते आपके चरण कमलों में कोटि-कोटि अभिनंदन। भगवन्! तीन तो कर चुक्या। अब चौथी में तैयार हूं। मैं छोटी बालिका हूं। आपके चरण कमलों में भगवन्! आई अरदास है कि ज्यूं अणचांजी महासतियांजी रे पारणो हो गयो तो मैं भी जाणूं हूं कि आप रे पुण्य प्रताप स्यूं परिपाटी होसी। आ शुद्ध भावना है पर म्हारे स्यूं कोनी हुवै गुरुदेव! आपकी शक्ति स्यूं होसी। आपकी आज्ञा स्यूं होसी। जिसो आपको मन है, आप सहायता कर-कर ईयांलकी शक्ति दिराओ कि मैं भी चौथी

परिपाटी पूरी करूं, ज्ञान में, ध्यान में, मौन में, साधना में आगे बढ़ती रहूं। शासन को काम करती रहूं। आ शुभकामना करूं।

आचार्य गणाधिपति पूज्य गुरुदेव फरमायो बो दिन आज आयो है। आपने आ बात फरमायो। म्हारो दृष्टांत बो सुणनै देवता बालो। आपने फरमायो जणै मैं अर्ज करी, गुरुदेव मनै चौथी परिपाटी कराओ। थारैं ऊंतावल कांई है। थे तो बीनै उत्तर दे दिया, अब चौथी परिपाटी थाने सुखे-सुखे करा देसी। आचार्यश्री को शब्द, गणाधिपति गुरुदेव को बो ओ शब्द आज साकार हुयो है।

मन में हर्ष इत्तो आवै है, इत्तो कोड आवै है कि मिठाई देख नै मुंडे में लारां पड़न लाग जावै और बो टाबर लाडू ने देखे, जणां कित्ती खुशी हुवे है। बींरो मुंडो मीठो हु ज्यावे बीं स्यूं हजार गुणो नहीं, लाख गुणों म्हारो मुंडो मीठो हो रियो है। इत्तो मनै हर्ष आवै। गुरुदेव! मैं आपने निवेदन करूं, म्हारी मांग आ ही कि गुरुदेव रे चरणां में राख कर चौमासो करावे, परिपाटी करावे तो मैं करूं। न्यारा में रहने की म्हारी इच्छा कोनी। गणाधिपति गुरुदेव रो ओ शब्द निकलेड़ो है कि थे रेवो कोनी। मैं रेवूं कोनी तो न्यारा में करूं कोनी। जणा गुरुदेव फरमायो कि ठीक है, थांरी आशा पूर्ति करासी। बो दिन आज आयग्यो। बड़ो हर्ष को दिन आयो है। अब गुरु चरणां में, गुरु की सेवा में म्हारै, इंयालका युवाचार्यश्री, सब सहायता करने वाला, साध्वीप्रमुखाश्री नवकारसी आतां-आतां ही पारणो लेर म्हारे ठिकाने पर पधारग्या। मैं जाण्यो कि आज इयां कियां पधार गया। पन्नांजी के पारणो नहीं हु ज्यावै, बे त्याग नहीं कर देवे। आप पधार्‌या इत्तो लेने पधार्‌या बो ओज आहार को काम करग्यो। इयांलको आप पारणो-धारणो सब करायो तो अै पधार्‌यां जणे मने याद आयो। आज इत्ता जल्दी कियां पधार गया? आपको पधारणो कियां हुयो? मैं सोच्यो—हां, ओज आहार को काम कर्‌यो। पहलो आहार ओज आहार करे। बीं री शरीर के मायने शक्ति कित्ती जोरदार रेवे। मैं विचार कर्‌यो कि नहीं इयां तो कोनी पधारे, ओज आहार ने सींचण के वास्ते आपको पधारनो हुयो है। इयांलको पवित्र दिन, इयांलका आप सब और इयांलको शासन मिल्यो है। आपको प्रताप है। आपके प्रताप स्यूं इयांलकी शक्ति दिराओ। आज को दिन कित्तो सुंदर है। तीज, बुधवार बीं रे मायने राज आयो है। ई स्यूं बेसी राज कांई हुया करै है, फेर ओ संयोग मिलग्यो। आप कृपा कराई। पण मैं अरज करूं—भगवन्! इत्ती शक्ति दिराओ कि मैं आगे बढ़ती रहूं, ध्यान में, ज्ञान में। शासण री सेवा करती रहूं।'

युवाचार्यश्री, साध्वी प्रमुखाजी और चतुर्विध धर्मसंघ ने इस महान तप-अनुष्ठान के प्रति मंगल भावनाएं समर्पित की। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने साध्वी पन्नाजी की अनाग्रह वृत्ति, अनाशक्ति, अनावेश आदि अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इस महान तप की सानंद सफलता का आशीर्वाद दिया। सामूहिक जप-अनुष्ठान के अनंतर आगम-सम्मत विधि से आचार्यवर ने लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप की चौथी परिपाटी का संकल्प दिलाया। संकल्प की स्वीकृति के साथ ही चौथा अभिग्रह सफल हो गया। पचास वर्ष बाद अपने चौथे अभिग्रह की संपन्नता पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए साध्वी पन्नाजी ने कृतज्ञतापूर्ण शब्दावली में कहा—'गुरुदेव। घणी कृपा कराई, घणों संबंल दिरायो, मन की आशा पूरी कराई, म्हारो चौथो अभिग्रह पूरो हुग्यो।'

इस पदार्थवादी, उपभोक्तावादी युग में तपस्या और अभिग्रह के ये प्रयोग एक चुनौती हैं, एक प्रेरणा और उद्दीपन है। आहार-संयम और अनाहार की शक्ति का निदर्शन है। अध्यात्म के इस प्रयोग में सामाजिक समस्या का समाधान भी निहित है। प्रत्येक व्यक्ति लंबी और दुष्कर तपस्या नहीं कर सकता, किंतु आहार-संयम और यथाशक्य निराहार का संकल्प अवश्य कर सकता है। यह संकल्प न केवल शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक स्वास्थ्य का संवर्धन करता है, अपितु भुखमरी जैसी जटिल सामाजिक समस्या का समाधान भी इसमें निहित है। पूर्व प्रधानमंत्री स्व. लालबहादुर शास्त्री ने सप्ताह में एक दिन न खाने का आह्वान किया था। जिन्हें आहार-संयम और निराहार की शक्ति का बोध होता है, उन्हें अकाल आदि गंभीर प्राकृतिक आपदाओं की भयावहता से मुक्ति का मंत्र मिल जाता है। वे इन विकट परिस्थितियों को अपने मनोबल से झेल लेते हैं।

साध्वी पन्नाजी जैसी तपोबली और मनोबली साधिका के जीवन से प्रेरणा लेने, आहार-संयम और निराहार की शक्ति को पहचानने की जरूरत है।

यह संयोग ही है कि भाद्रव शुक्ला अष्टमी (6 सितंबर, 2000) को दीर्घ तपस्विनी साध्वी पन्नाजी ने चौरानवें वर्ष में मंगल प्रवेश किया है। उनकी अटूट आस्था, अगाध समर्पण, प्रबल मनोबल और विशिष्ट तपोबल जन-जन में आहार-संयम और निराहार की शक्ति के प्रयोग की चेतना जगाए, ऐसी मंगल अभीप्सा की जानी चाहिए।

तेरापंथ शासन में पूज्य कालूगणी के समय में साध्वी धनाजी और साध्वी मुखांजी ने तथा पूज्य गुरुदेव तुलसी के समय में साध्वी अणचांजी ने लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप की चौथी परिपाटी को संपन्न किया। शासन गौरव, दीर्घ

तपस्विनी, दिव्य तपस्विनी साध्वी पन्नाजी ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शासनकाल में इस तप को स्वीकार किया है। इस तपस्या में तप के पारणे में आयंबिल किया जाता है। आयंबिल का अर्थ है—केवल पानी और एक अन्न का प्रयोग। अन्न भी दिन में एक बार ही लिया जा सकता है। लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप का क्रम इस प्रकार है—

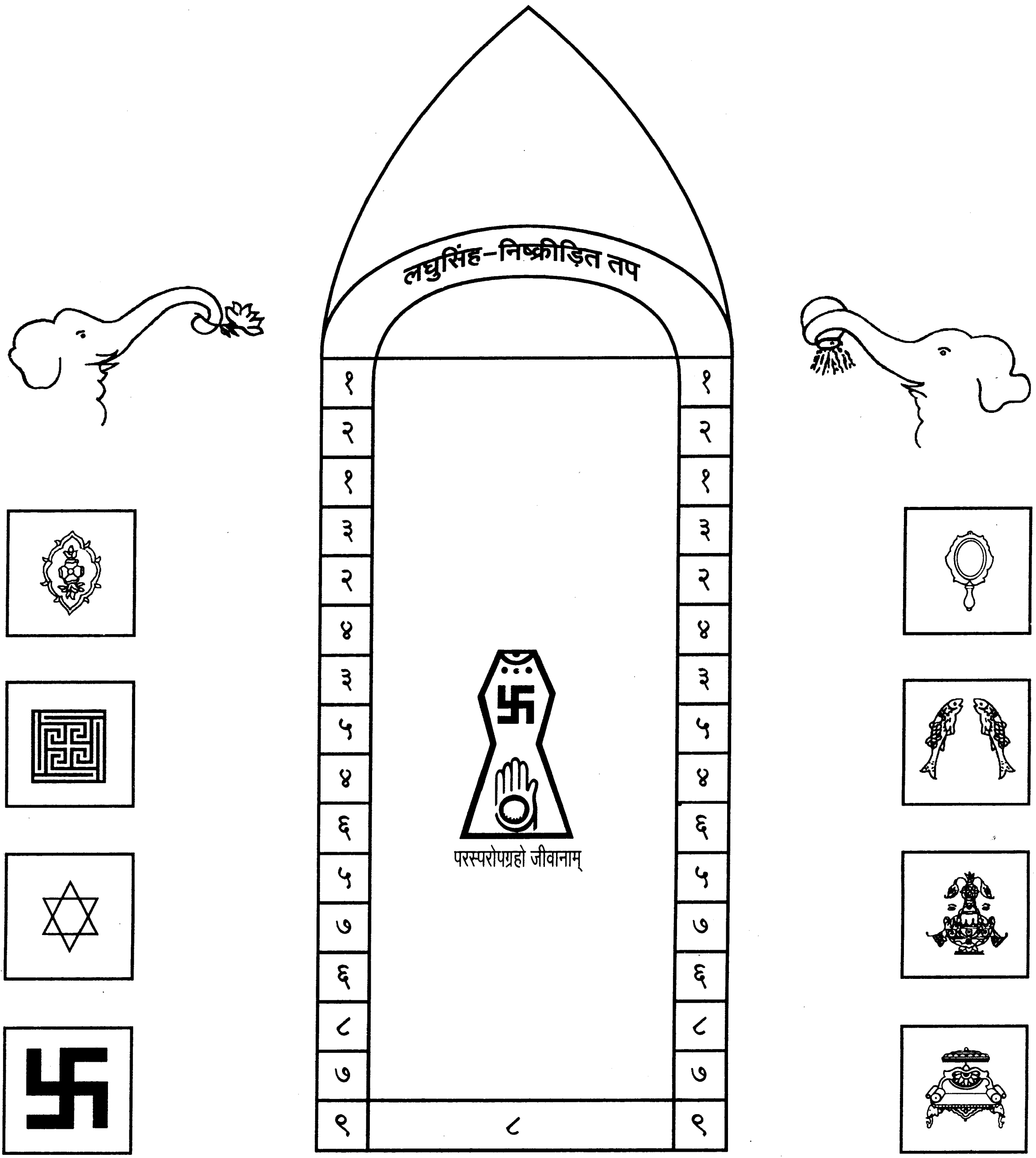

...जगत, जीवन, वस्तु, व्यक्ति, सब के साथ अब तक जिस चेतना-स्तर पर संप्रेषण और संवाद संभव था, वह अब पीछे छूट गया है। वहां लौटना अब संभव नहीं। वहां गत्यवरोध और कुंठा की आखिरी चट्टान सामने आ गई, तभी तो वहां से उच्चाटित और उत्क्रांत हो जाना पड़ा। अब इस एकलता के सीमाहीन शून्य में, किसी नए क्षितिज की कोर देखने को प्रतिक्षण छटपटा रहा हूं। अपनी पिछली पहचान हाथ से निकल चुकी है और अगली पहचान अब मैं नहीं खोज रहा। क्या कोई एकमेव और अविकल पहचान मेरी नहीं? वह जब तक हाथ में न आ जाए, तब तक कैसे जान सकता हूं कि 'मैं कौन हूं?' और जब तक अपने ही को अंतिम परिप्रेक्ष्य में न जान लूं, तब तक औरों को अंतिम रूप से जान लेने का दावा कैसे कर सकता हूं?

मैं कौन हूं

कहानी

❑ वीरेन्द्रकुमार जैन

बाहरी पृथ्वी से असंपृक्त हो गया हूं। अपने ही शरीर की मूल पृथ्वी में उतर गया हूं। रक्त-शिराओं के अंधकार को पार कर, हड्डियों के पोलानों में व्याप्त तमस से गुजर गया हूं। मज्जा के अति महीन घनत्व को विदीर्ण करता हुआ विशुद्ध माटी के लोक में से संक्रमण कर रहा हूं। पुद्‌गल के स्कंधों में से राहें खुल रही हैं। यहां उस मौलिक कार्मिक रज के सीधे संस्पर्श में हूं, जिसके उत्तरोत्तर परिवर्द्धमान घनत्वों में से, सृष्टि में आकृतियां प्रकट होती हैं। यहां हमारी चेतना की विभिन्न परिणतियां ही कैसे पिंडीकृत और भावित होती हैं, उस प्रक्रिया का साक्ष्य अनुभव में आ रहा है।

इस चरम और तात्त्विक अंधकार की नीरंध्रता में एक अजीब और बेरोक व्याकुलता है। मानो कि यह अंधता अब अपने आप में ठहर नहीं सकती। जैसे कि अभी औचक ही इसमें आंख खुल उठेगी। रह-रह कर मानो इस तमसा में प्रकाश के परमाणु तारों की तरह टिमक कर बुझ जाते हैं। अभी-अभी जैसे कहीं एक निःशब्द विस्फोट होगा और कोई विभ्राट ज्योति जल उठेगी। कोई ऐसा उजाला, जो अंधकार का विरोधी नहीं, अंधकार भी जिससे बाहर नहीं, मात्र इसकी एक बहिर्मुख परिणति है। तत्त्व की इस अंतरिमा में उसके सारे संभावित आयामों के बीज, सर्वत्र राशियों में फैले, फूटते और अंखुआते दीख रहे हैं। ...चारों ओर जैसे असंख्य खुली आंखों से घिर गया हूं। और तब इस घनीभूत अंधियारे कर्दम से लगा कर, इसमें से फूटने वाले कमल तक की दूरी लुप्त-सी हो गई है। एक माया, एक लीला मात्र।

...कितना अकेला हो गया हूं। भयावह है यह एकाकीपन। बाहर के जगत से, जीवन से, इस कदर वियुक्त तो पहले कभी नहीं हुआ था। सब-कुछ से कट कर, बिछुड़ कर, इतना अकेला पड़ गया हूं कि इस एकलता में ठहरा नहीं जा रहा है। सबके साथ शाश्वत जुड़ाव में जीने की अनवरत साधना अब तक करता रहा। सबके प्रति अपने को इतना निःशेष दिया कि अपने आत्म को मैंने जैसे रहने ही नहीं दिया। फिर भी क्या सबके साथ संपूर्ण योग और एकत्व सिद्ध हो सका?

हर सम्मुख आने वाले जीवात्मा के जन्म-जन्मांतरीण अंधकारों में संक्रमण और अतिक्रमण किया है। मेरे उस संपूर्ण आत्मदान से, पूर्वजन्म की अनेक संबंधित आत्माओं की जन्म-जन्म की ग्रंथियां उन्मोचित हुई हैं, मेरे और उनके बीच के कर्मावरण की अनेक अभेद्य दीवारें टूटी हैं। एक महाभाव प्रेम के भीतर उनके साथ, निरवच्छिन्न मिलन की अनुभूति हुई है। लेकिन फिर भी क्या उनके और मेरे बीच वह मुक्ति घटित हो सकी, जिसके बाद कोई भी ग्रंथि या आवरण शक्य न रह जाए? क्या अंतिम ग्रंथि का मोचन हो गया, क्या अंतिम आवरण हट गया?

पहले ही दिन अपने बैल के गुम हो जाने पर, अपनी रस्सी को तिहरी बंट कर मुझे कोड़े मारने वाला ग्वाला हो, कि

शूलपाणि यक्ष हो, कि संगम देव हो, कि सुदंष्ट्र नागकुमार हो, कि कटपूतना बाण-व्यंतरी हो, कि अंतिम बार शूलों से आरपार मेरा कर्णविध और मस्तकभेद करने वाला गोपाल हो, निश्चय ही इन सभी की जन्म-जन्म की कषाय-ग्रंथियों का मोचन हुआ है। इन सभी के मनों में मेरे प्रति जो चिरकाल की वैराग्नि जल रही थी, उसका शमन भी निस्संदेह हुआ है। इन सभी की क्षमा और प्रीति भी मुझे सदा को प्राप्त हो गई है। अपने जी की बात, अपना प्यार इनकी आत्माओं तक पहुंचाने में भी शायद मैं यत्किंचित सफल हुआ हूं।

फिर भी क्या त्रिलोक और त्रिकाल में इनके साथ मैं निरवच्छिन्न-रूप से घटित हो सका हूं? क्या इनके साथ मेरा संवाद और संप्रेषण अव्याहत हो सका है? लगता है कि इनके और मेरे बीच अब भी कोई ऐसा अपरिभाषेय रिक्त बना है, जिसकी संपूर्ति अभी नहीं हो सकी है। सर्वकाल और सर्वदेश की असंख्य कोटि आत्माओं के साथ अभी जैसे पूर्ण ज्ञानात्मक सायुज्य उपलब्ध नहीं हो सका है। अपने को अणु मात्र भी तो बचाकर नहीं रखा है। अपनी इस देह को तिल-तिल हवन हो जाने दिया है। फिर भी सदेह जैसे मृत्यु का समुद्र तैर गया हूं। बारंबार एक अनाहत, अव्याबाध जीवन जीने की अनुभूति भी हुई है।

फिर भी क्या कारण है कि एक अफाट शून्य में आज अकेला छूट गया हूं? ...मैं...मैं...मैं। वह...वह...वह। इस चिरंतन द्वैत से कहां निस्तार है। क्या यह सतर्कता अब भी मुझमें नहीं है, कि मैं हूं कोई विशिष्ट पुरुष महावीर? जिसने अपने जन्म-जन्म के बैरियों को खोज कर, उन्हें अपने प्रेम और क्षमा से जय किया है। कि मैं इन सबका तरणोपाय बना हूं। कि मैं त्राता हूं, सर्व का परित्राता हूं। सर्व परित्राण के लिए ही मेरा अवतरण हुआ है। क्या मेरे इस अहम् का निर्मूलन हो सका है? और यह अहम् जब तक अणु मात्र भी शेष है, तब तक सर्व के और मेरे बीच की अंतिम खंदक कैसे पट सकती है? वह नहीं पट सकी है, इसी से तो इस शून्य में इतना अकेला छूट गया हूं।

...ऐसा लग रहा है, कि इस द्वैत का निराकरण किसी अद्वैत में भी नहीं है। वह भी एक शाब्दिक विकल्प या धारणा ही तो है। शुद्ध आत्मानुभूति में न द्वैत है, न अद्वैत। बस, जो यथार्थ में है, वही है, जिसकी परिभाषा संभव नहीं। परिभाषा मात्र विकल्प है।

इन अनेक जीवात्माओं की कषाय-क्लिष्ट चेतना के प्रति मैं दया और करुणा से भर-भर आया हूं। और यह दया और करुणा भी क्या द्वैतभाव ही नहीं है? पूर्ण वीतराग हुए बिना, पूर्ण प्रेम और पूर्ण एकत्व में अवस्थिति कैसे संभव है? मैं और वह का विकल्प जब तक है, तब तक सबके साथ सूक्ष्म राग तो बना ही हुआ है। फिर चाहे वह कितना ही सात्त्विक और मांगलिक क्यों न हो। और जब तक यह राग है, तब तक विच्छेद और अलगाव है ही। यह राग संवेदन है, स्पंदन है, उत्स्फुरण है। इसके रहते चैतन्य में विक्षोभ और विकल्प का चांचल्य रहेगा ही। यह संवेदन जब तक पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित न हो उठे, तब तक सर्व के साथ सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य में अवस्थित नहीं हुआ जा सकता।

× × ×

...अपने आत्म-परिणामों को इस क्षण प्रत्यक्ष देख रहा हूं। कर्मोदय से जो राग-द्वेषात्मक भाव उत्पन्न होते हैं, उस विक्षोभ से मैं बेशक आगे जा चुका हूं। सात्त्विक वृत्तियों के संवेग के कारण जो कर्म-बीज का निपट तात्कालिक उपशमन होता है, उस क्षणिकता में भी मेरे परिणाम बद्ध नहीं हैं। तीव्र वीतरागता के उदय से कभी-कभी अपने अनादि कर्म-मल का विपल मात्र में क्षय होना भी अनुभव किया है। पर निःशेष कर्म-मल की निर्जरा तो हुई नहीं। तब यह क्षायिक भाव भी आत्मा की एक गुजरती अवस्था से अधिक न हो सका। क्षयोपशमिक भाव में ही अब भी यात्रा चल रही है। कुछ कर्म मात्र उपशमित हो रहते हैं, तो कुछ कर्म झड़ जाते हैं। क्षय और उपशम की यह एक मिली-जुली अवस्था-सी है। इन सारी अवस्थाओं से परे जो आत्म-स्थिति है, उसकी बारंबार झलक पा कर भी, उसकी अंतर-मुहूर्त अनुभूति में स्तब्ध हो कर भी, फिर अवस्था-विशेष में अवरूढ़ हो जाना होता है।

कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से परे की वह आत्म-स्थिति कैसे उपलब्ध करूं, जिसमें बिना किसी बाह्य निमित्त के, बिना किसी निम्न या ऊर्ध्व प्रतिक्रिया के, एक शुद्ध बेशर्त, निसर्ग परिणमन में ही अवस्थान हो जाए। एक ऐसी महाभाव-स्थिति, जिसमें दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य नितांत स्वतंत्र होकर, एक विशुद्ध और अकारण आत्मोर्जा के रूप में मेरे भीतर रमणशील रहें। एक ऐसा बेशर्त निर्नैमित्तिक आत्म-रमण और अंतर्मैथुन, जिसमें बिना किसी चाह, विकल्प या बाहरी क्रिया के भी, जीव मात्र और पदार्थ मात्र के साथ, एक निरंतर मिलन-मैथुन अंतहीन हो जाए। उस शुद्ध पारिणामिक भाव को कैसे उपलब्ध हुआ जाए?

जब तक उस मुकाम पर न पहुंच जाऊं, तब तक मेरे सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, दया, सहानुभूति, करुणा, प्रेम खंडित और अपूर्ण ही रहेंगे। ये सब संवेदन हैं, प्रवृत्तियां हैं जो

पर-निर्भर हैं, इसी कारण द्वैत और विकल्प से ग्रस्त हैं। ये सब अहम्‌जन्य मन की उदात्त अवस्थाओं से अधिक नहीं। इनका प्रतिकल्प और प्रतिलोम कहीं है ही। ऐसा लगता है, कि मेरे इस ऊर्ध्वमुख संवेदन को ही, नितांत ज्ञान हो जाना पड़ेगा। चरम संवेदन की परम परिणति पूर्णज्ञान में हुए बिना रह नहीं सकती। संवेदन नहीं, शुद्ध आत्मवेदन चाहिए। वही आत्मज्ञान है। पूर्ण आत्मज्ञान बिना, पूर्ण सर्वज्ञान संभव नहीं दीख रहा। 'मैं कौन हूं?' का उत्तर, अनेक प्रसंगों में और अनेक चेतना-स्तरों पर सम्यक् रूप से पाया है। पर क्या वह उत्तर मैं स्वयं हो सका हूं? तब तक कैसे कहूं, कि ठीक जान गया हूं, कि मैं कौन हूं। मेरा आत्मबोध अभी दूसरों के साथ घटित होने पर निर्भर करता है, वह अकारण स्वतःस्फूर्त अखंड अनुभूति की लौ नहीं हो सका है।

...अभी कल तक भी, क्या श्रेणिक के साथ एक उद्‌बोधनात्मक प्रतिक्रिया में ही घटित नहीं हो रहा था? श्रेणिक, और उससे जुड़ी हैं चेलना, नंदा, कोसला, क्षेमा, आम्रपाली, सालवती। उससे संबद्ध आर्यावर्त की सारी ही नगरवधुएं, दूर-दूरांत के सारे देशों, द्वीपों, समुद्र-तटों की वे सुंदरियां, कुमारियां, जिनके साथ श्रेणिक की आत्मा अंतर्ग्रस्त है। अभय राजकुमार, अजातशत्रु, वर्षकार, वैशाली और मगध के बीच का संघर्ष, श्रेणिक का साम्राज्य-स्वप्न। तमाम समकालीन विश्व की जीवन-लीला, उसके वैषम्य, विसंवाद, उसके युद्ध और संधियां, शांतियां और अशांतियां। उपग्रहों और विग्रहों के बेशुमार शाखाजाल। ...श्रेणिक में हो कर, चेलना में हो कर, त्रिशला की वेदना में हो कर इस सारी संसार-शृंखला से अभी कल तक जूझता रहा हूं। अपने प्यार के मधुर रक्त-रसायन में डुबा-डुबा कर इस लोहे की सांकल को सोने की सांकल में रूपांतरित किए बिना जैसे मुझे चैन नहीं।

...पर देखता हूं कि अलग-अलग कड़ियों के जुड़ाव से निर्मित यह संकलना जब तक सांकल है, तब तक बंधन और अलगाव बना ही है। टकराव, भटकाव और उलझाव अंतहीन रूप से जारी हैं। ...और देख रहा हूं कि सहसा ही, इस महारंगमंच के हम सारे ही अभिनेता, एक झटके के साथ नितांत अकेले पड़ गए हैं। झनझना कर सांकल टूट पड़ी है। कड़ियां बिखर कर अपने-अपने एकांतों में जा पड़ी हैं और छटपटा रही हैं। संवाद और संप्रेषण की सीमांतिक खिड़कियां अचानक बंद हो गई हैं। मन और इंद्रियों ने जवाब दे दिया है। उन्होंने अपनी सीमा और हार स्वीकार कर ली है। एक गत्यवरोध के मानुषोत्तर पर्वत ने हमारी चेतना की राहें रूंध दी हैं। एकलता के इस महाशून्य तट पर हम सब, हाय, कितने-कितने-कितने अकेले हैं!

याद आ रहा है, षड्‌गमानि ग्राम के उपांत भाग में उस दिन कायोत्सर्ग में प्रवेश करते ही, कैसी भयावह नियति की पदचाप समस्त आकाश-नाड़ी में ध्वनित सुनाई पड़ी थी। ...और फिर उस गोपाल ने जब शल्य द्वारा मेरा कर्णवेध किया, तो लगा कि मेरी चेतना में जो बहुत गहरे कहीं एक दरार छुपी थी, वह नग्न होकर सामने आ गई। उस महावेदना में, एकाएक मैं अवश चीत्कार उठा अपने बावजूद 'मां'! संसार के प्रत्येक प्राणी और वस्तु का अनाथत्व उसमें अनुगुंजित हो उठा। वह पुकार मानो कहीं अंतिम शरण पा जाने के लिए थी। पर क्या वह शरण अपने से अन्य में और अन्यत्र कहीं संभव है? और वह चीख जैसे अनंत-कोटि ब्रह्मांडों को विदीर्ण कर गई। समस्त विश्वात्मा के हृदय में जैसे दरार पड़ गई। या कि वह दरार चिरकाल से वहां थी और उस आघात से वह खुल कर सामने आ गई?

...बस, उसी क्षण मैं अंतिम रूप से अकेला पड़ गया था। मानो अपने ही से बिछुड़ गया था। अपने ही ऊपर, कैसी दया, करुणा आ गई थी। मानो अपने ही लिए पहली बार रो उठा, और कहीं किसी मां में शरण खोजी। पुकार उठा : 'ओ मां, तुम कहां हो?' वह रोना नितांत अपने ही लिए हो कर भी क्या सबके लिए नहीं था? क्या त्रिशला की विरह-वेदना उसमें नहीं थी? क्या चंदना की भटकनें, खोज, संकट-संघर्ष, उच्चाटन, उसकी अंतहीन पुकार का प्रतिकार उसमें नहीं था?

...ओह, लग उठा था कि हाय, कितना अनिश्चित, अरक्षित और घात्य है यहां हमारा अस्तित्व! रोग, शोक, जरा, वियोग, अकस्मात मृत्यु के चंगुल में ही हम प्रतिपल जीते हैं। क्या कोई ऐसा जीवन संभव नहीं, जिसके हम स्वामी हों, जिसमें क्षय, मृत्यु और वियोग मात्र हमारे अधीन अनिवार्य सज्ञान अवस्थाएं हों? जिनमें से हम यों गुजर जाएं, जैसे ऊपर की मंजिल में चढ़ने के लिए, हमें निचली मंजिल को पीछे छोड़ देना होता है।

...सिद्धार्थ वणिक और खरक वैद्य द्वारा शल्य-मुक्ति पा कर जब चला, तो कितना अकेला पाया था अपने को मगध की राह पर। बिछोह की उस अनुभूति को, किसी भी मानवीय वियोग के परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा जा सकता। 'मां' की अवश पुकार जब 'आत्...मा' में प्रतिध्वनित हुई, तब भी क्या खोज उस एकमेव मां और रमणी की ही नहीं थी, जिसकी गोद में ही परम विश्राम और मुक्ति संभव है?

× × ×

और मैं चेलना के देश चला आया। और तब क्या नहीं दिया मुझे चेलना ने? संसार में उससे बड़ा सुख और क्या हो

सकता है? प्रीति और आत्मार्पण की उस यज्ञशिखा से अधिक सुंदर और कौन चेहरा हो सकता है? आत्मा की चरम विरह-व्यथा से विदग्ध वह दर्दीली मुख-मुद्रा! ...पर हाय, फिर भी क्या चेलना मुझ में संपूर्ण आ सकी, या मैं उसमें संपूर्ण जा सका? क्या वह मैं हो सकी, या मैं वह हो सका? ...अंतिम बिछोह के तट पर, कितने विवश अपने में बंद, मूक, हम एक-दूसरे को ताकते रह गए? तलछट तक एक-दूसरे को जानकर भी, कैसे घोर अज्ञान के पहचानहीन अंधियारे समुद्र में हम छूट गए। तूफानी लहरों में डूबते मस्तूलों-से हम एक-दूसरे की नजरों से ओझल होते चले गए।...

श्रेणिक भी एक और निमित्त बना, अपनी पहचान के संघर्ष का। मगध में मेरे यों निश्चल खड़े रहते, उसे अपने अस्तित्व के अहम् को टिकाए रखना अशक्य हो गया। और मैं मनुष्य के उस चरम अहम् से जूझे बिना अपने आत्म के ध्रुव पर कैसे आरूढ़ हो सकता था। मानो कि श्रेणिक मेरी कसौटी था। मानो कि वह मेरी सत्ता के माप का मेरुदंड था। और उस पर अपने अनंत को सिद्ध किए बिना मैं जैसे अपनी आत्मा का चेहरा अनवगुंठित नहीं कर सकता था। मानो कि श्रेणिक से निवृत्त हुए बिना, उसे उद्‌बोधे और उबारे बिना, जैसे मैं स्वयं आप नहीं हो सकता था। सो अंत तक उसे संबोधन किया, सबको संबोधन किया।

...और अचानक पाया कि संवाद-संप्रेषण की खिड़कियां धड़ाम से एकाएक बंद हो गई हैं। हम सब अपने-अपने में लौट गए हैं। एक आदिम अंधकार के समुद्र में कीलित, दूर-दूर पर छिटके अनेक द्वीप, जो अपने ही भीतर की खंदकों में अवरुद्ध हैं।

...जगत, जीवन, वस्तु, व्यक्ति, सब के साथ अब तक जिस चेतना-स्तर पर संप्रेषण और संवाद संभव था, वह अब पीछे छूट गया है। वहां लौटना अब संभव नहीं। वहां गत्यवरोध और कुंठा की आखिरी चट्टान सामने आ गई, तभी तो वहां से उच्चाटित और उत्क्रांत हो जाना पड़ा। अब इस एकलता के सीमाहीन शून्य में, किसी नए क्षितिज की कोर देखने को प्रतिक्षण छटपटा रहा हूं। अपनी पिछली पहचान हाथ से निकल चुकी है और अगली पहचान अब मैं नहीं खोज रहा। क्या कोई एकमेव और अविकल पहचान मेरी नहीं? वह जब तक हाथ में न आ जाए, तब तक कैसे जान सकता हूं कि 'मैं कौन हूं?' और जब तक अपने ही को अंतिम परिप्रेक्ष्य में न जान लूं, तब तक औरों को अंतिम रूप से जान लेने का दावा कैसे कर सकता हूं?

...जहां आज खिड़कियां बंद हो गई हैं, क्या उससे आगे वस्तुओं और व्यक्तियों पर कोई ऐसा संपूर्ण मंडलाकार वातायन नहीं खुल सकता, कि जिसके तट पर मैं उनके भीतर अबाध संक्रमण और अतिक्रमण करूं, और वे मेरे भीतर बेरोक और अनाहत भाव से आलिंगित होते चले आएं। '...मैं हूं, और वे हैं। मैं कौन हूं, वे कौन हैं? उनसे मेरा क्या संबंध है? उन्हें मैं कैसे पूर्ण जानूं, पूर्ण प्राप्त कर लूं? कैसे उनसे अनिवार तदाकार हो रहूं? कैसे मैं वे हो जाऊं, वे मैं हो जाएं?'—ये सारे विकल्प जहां समाप्त हो जाएं। बस, केवल विशुद्ध स्व-भाव में ऊर्मिल वह समुद्रानुभूति रह जाए, जिसमें तरंग का समुद्रत्व और समुद्र का तरंगत्व स्वतः ही निर्णीत होता रहे। जहां स्व-पर, द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य से परे, स्वायत्त सत्ता में सारे अस्तित्व आप ही प्रबुद्ध, परिभाषित, सहज संबंधित होते रहें। जहां आत्म-संवेदन और आत्म-ज्ञान, पर-संवेदन और पर-ज्ञान भी उस एकमेव ज्ञानानुभूति में लौ-लीन हो जाए, जहां अलग से जानना और अनुभव करना तक अनावश्यक हो जाए।

ऐसा लग रहा है कि एक बार सत्ता की उस शुद्ध पारिणामिक स्थिति में आत्मोत्तीर्ण हुए बिना, आत्मा और पदार्थ, जीवन और जगत के साथ वह संप्रेषण और संवाद संभव नहीं, जिसे पाए बिना मुझे विराम नहीं। जिसके बिना मानो मैं एक सत्ताहीन शून्य के तट पर, सदा के लिए जैसे निर्वासित हो गया हूं। जिसके बिना क्षण भर भी सत्ता में मेरा ठहराव संभव नहीं।

क्या यह एकाकीपन ही मेरी और सबकी अंतिम नियति है? या कोई ऐसा एकत्व भी कहीं संभव है, जहां अलगाव नहीं, बिछोह नहीं? यहां तो ज्ञान तक एक पारदर्शी स्फटिक की महीन किंतु अभेद्य दीवार बन कर हम सबको असंख्य कोणों, आयामों, आकारों में खंडित, विभाजित कर छोड़ता है। क्या कहीं कोई ऐसा सामरस्य संभव है, एक ऐसा अगाध और अकथ्य मिलन-सुख, मैथुन-सुख, जिसमें प्रतिक्षण द्वैत अद्वैत और अद्वैत द्वैत होता रहता है? जिसमें एक में अनेक और अनेक में एक का लीला-खेल अविनाभावी भाव से चलता रहता है। जहां एक ही अंतर-मुहूर्त में पूर्ण ज्ञान ही पूर्ण संवेदन, और पूर्ण संवेदन ही पूर्ण ज्ञान होता रहता है।

...असीम परिणमन के समुद्र पर एक अकंप लौ, जिसमें सारा समुद्र अपनी अनंत वासना के साथ निरंतर एकाग्र आलोड़ित है।

× × ×

देखता हूं, कि एक अनुप्रेक्षण मेरे भीतर चल रहा है। लगता है कि यह संसार मानो एक विशाल करंडक की तरह मेरे सामने उपस्थित है। इसकी परस्पर बुनी-गुंथी तीलियां

अपने ही आपको धोखा दे गई हैं। और मेरी नासाग्र दृष्टि के भेदन से वे छिन्न-भिन्न हो कर इस करंडक के सारे गोपित उलझावों और रहस्यों का पर्दाफाश कर देना चाहती हैं। ...और यह संसार मेरे सम्मुख यों खुल रहा है, मानो हर पिटारी के भीतर से एक और बंद पिटारी निकल कर सामने आ जाती है। पिटारी के भीतर पिटारी, पिटारी के भीतर पिटारी, एक और...एक और...एक और पिटारी। बचपन में मां की कही एक कहानी में ऐसी ही एक आदि वृद्ध बुढ़िया की रहस्यमयी महापिटारी की बात आती थी। हर दिन वह बुढ़िया पिटारी में से एक और पिटारी निकाल कर उसके तिलस्मों का वर्णन करते न थकती थी। और आखिर हर पिटारी का तिलस्म औचक ही टूट जाता था, और बुढ़िया हाय-हाय कर विलाप करने लगती थी। मुझे उसके साथ कैसी हमदर्दी और असह्य सहवेदना अनुभव होती थी!...

आज उसी महा करंडक की कथा मेरे लिए सत्यान्वेषण का एक माध्यम बन गई है। और इस जगत के मोहक इंद्रजाल एक-एक कर बुढ़िया के उन तिलस्मों की तरह टूट रहे हैं। इस हद तक, कि अपने इस द्रष्टा को ठहराने के लिए हर उपलब्ध पृथ्वी छोटी पड़ रही है। ठहराव का हर पटल हाथ से निकला जा रहा है। ...कहां, कितनी दूर है वह ध्रुव, जिस पर अविचल रूप से टिका जा सके, अवस्थित हुआ जा सके। कहीं कोई ध्रुव है भी, या नहीं?

और अतिक्रमण की इस प्रक्रिया के दौरान, सहसा ही जैसे परिप्रेक्षण की एक नई दृष्टि किसी अदृष्ट में से उतर आई कुंजी की तरह मेरे सामने तैर आई है।...

स्पष्ट प्रतिबोध पाया कि अब तक मैं किसी आत्मा को पूर्व-स्थापित कर, उसी के चश्मे से अस्तित्व को देखता था और उसकी एक मूलगत व्याख्या करता चला जाता था। तत्त्व से आरंभ करके अस्तित्व तक जाता था। अपने ही आत्म में अवस्थित हो कर, अस्तित्व की सारी विषमता, जटिलता और त्रासदी को व्यर्थ कर देता था। तत्त्व में अस्तित्व को निर्वापित कर, मानो उससे पलायन कर जाता था। शायद यही कारण हो कि अस्तित्व के विराट अनेकत्व और वैविध्य के साथ अचानक, पराकाष्ठा पर पहुंच कर, मेरा संवाद भंग हो गया है। जीवंत अस्तित्व को, उसके दुखों, संघर्षों, संत्रासों, विसंवादों सहित अणु-प्रति-अणु, कोण-प्रति-कोण, जिए-भोगे अवगाहे-जाने बिना, उसके साथ अनेकांतिक तत्त्व को कैसे समग्र आश्लेषित किया जा सकता है?

इस सीमाहीन अस्तित्व को, इसकी नानामुखी विराट त्रासदी के साथ, समूचा साक्षात करना होगा। इसे तत्त्व में विसर्जित किए बिना, इसके बहुत्व और वैषम्य को ज्यों का त्यों, जैसा वस्तुतः सामने है; वैसा देखना, भोगना और जानना होगा। इसकी भयावहता और त्रासदी का बेशर्त, निर्विकल्प मुकाबला करना होगा। इसे अपनी धारणाओं से व्याख्यायित नहीं करना होगा, निर्विचार और निःसंग संचेतना से इसके साथ टकराना होगा। नहीं, न अस्तित्व का कोई वाद बनाना होगा, न तत्त्व का। निर्विवाद और निर्विकल्प वस्तु-स्थिति जो, जैसी सामने आ रही है, जैसी वह उपलब्ध है, उसी में अपने को घटित देखना और समझना होगा। अपने को पूरा जानने और पाने के लिए, सर्व के साथ संपूर्ण उलझाव अनिवार्य है।...

...और इस प्रकांड बिल्लौरी करंडक का रंगीन तिलस्मी पर्दा, विपल मात्र में चरचरा कर जीर्ण वस्त्र की तरह फट गया। ...और देख रहा हूं, कि यहां के ये सारे रूपाकार प्रतिक्षण विनाश से ग्रस्त हैं। जो रूप, जो आकार, जो चेहरा पिछले क्षण सामने था, वही अगले क्षण नहीं है। हर आकार, हर चेहरा अपने को धोखा देता चला जा रहा है। अपना ही यह शरीर, यह चेहरा अपना नहीं है, अपने वश में नहीं है। एक विभ्राट अनित्यत्व में ही यह सारा खेल चल रहा है।

याद आ रहे हैं, बेशुमार परिचित आत्मीय चेहरे। जाने कितने व्यक्तियों, वस्तुओं के समास से बने महल, मकान, मुकाम, जिनमें हम अपना घर खोजते हैं, जिनमें लौट कर विराम-विश्राम पाने की भ्रांति में होते हैं। पर वे सब अपने ही साथ घर पर नहीं हैं, एक मुकाम पर नहीं हैं। वे प्रतिक्षण परिवर्तमान हैं। अपनी किसी एकमेव इयत्ता से वे स्वयं ही अनजान हैं। उनमें घर, सुरक्षा या आश्वासन कैसे पाया जा सकता है? जो घर स्वयं ही अपना नहीं है, अपने में नहीं है, उसमें अपने लिए घर कैसे पाया जा सकता है?

याद आ रहा है अपना वह बालक, वह किशोर जो खेलते-खेलते अचानक अटक जाता था। खेल से उसका मन उचट जाता था। खेल से छिटक कर वह बाहर खड़ा हो जाता था। खेल में आनंद लेना उसके लिए अशक्य हो जाता था।... सो उससे पीठ फेर कर, उदास मुंह लटकाए, वह दिशाहीन राह पर भाग खड़ा होता था। और वह मन-ही-मन कांप उठता था : '...आह, खेल, जो एक दिन अचानक रुक जाएगा। खेल के साथी, जो अभी हैं, वे कभी न कभी बिछुड़ जाएंगे, और फिर कभी न दिखाई पड़ेंगे। ...और याद आता है हिरण्यवती पार का वह सल्लकी-वन, वह खेल का प्रांगण, जो अब सूना, उदास, नीरव पड़ा होगा। ...खेल जो अभी खेला है, वह फिर नहीं लौटेगा। वही लड़के-लड़कियां नहीं लौटेंगे, जो कल खेल में साथ थे।...'

नंद्यावर्त में नव-आयोजित सरस्वती-भवन में कभी कुछ सीखने या करने को जी न चाहा। वातायन और गैलरी पर खड़े हो कर, बादलों में उठते नवनवीन महलों की जादुई भीतरिमाओं में अपने स्वप्न का सौंदर्य खोजता था, अपना मनचाहा चेहरा और संगी टोहता था। ...और देखते-देखते पाता था, कि नवनव्य महलों की वह सौंदर्य-माया जाने कहां तिरोहित हो गई है। ...नील शून्य के अथाह में अकेला छूट गया हूं। नंद्यावर्त की वह गैलरी मानो वहां से कट कर, जाने किसी अज्ञात तट के कोहरे में विलुप्त हो गई है। कोई घर कहीं पीछे नहीं छूटा है, जहां लौटा जा सके।

...ठीक आंख के सामने सिरा जाते अनेक माता-पिता देखता था। कितनी मांओं की ममताली ऊष्म गोदियां जल-बुद्बुद् की तरह विलीन होती दीखती थीं। तब अपनी ही मां की वे कमनीय सुंदर भरी-भरी बांहें, उसकी वह अथाह गोद, उसमें गोपित वह सुरक्षा और शरण सब जैसे बर्फ के निर्जन निचाट, सपाट मैदान हो रहते थे, जहां दिगंतों तक किसी के होने का कोई निशान नहीं, कोई अहसास नहीं। तब कितना अकेला-उदास हो कर अपने उस स्फटिक कक्ष के नैर्जन्य में घंटों-पहरों बंद हो रहता था। प्राण कांद-कांद उठते थे। रो कर भी जैसे उस वेदना से मुक्ति नहीं। क्योंकि कौन, किसके लिए रोए, क्यों रोए? आखिर कोई एक, अविचल, अक्षुण्ण कुछ हो तब न? विरह भी किसका, जब किसी के होने का कोई निश्चय नहीं, प्रतीति नहीं।...

...फिर भी जीवन का खेल खेलने को विवश तो था ही। महलों की सुख-शैया से उच्चाटित हो कर वीरानों, पर्वतों, जंगलों, नदियों के प्रवाहों पर क्या खोजता फिरता था? शायद यही, कि क्या विविध रूप-आकारों के इस नाना रंगी जगत में कोई ऐसी आकृति, ऐसा चेहरा, ऐसा व्यक्तित्व है, जिसे अंतिम रूप से अपना कहा जा सके?

अनोमा-तट के शालवन की वह बालिका शालिनी, उस क्षण कितनी सत्य लगी थी? और फिर विराट विंध्यारण्य में, मानो शाश्वत विंध्याचल में से ही आविर्भूत हो गई, वह प्रकृत बाला काली मिली थी। पर्वत की चट्टान के भीतर से अपना सुकठिन वक्षालिंगन उसने मुझे अनुभव कराया। पर क्या उसका वह मिलन किसी नित्यत्व की अनुभूति करा सका?

...उस दिन अचानक चंदना कैसी विकल साध लेकर मुझ से मिलने नवम् खंड के कक्ष में आई थी। उसे सम्मुख पा कर कैसे शाश्वत सौंदर्य के साक्षात्कार की अनुभूति हुई थी। लेकिन वह चंदना क्या स्वयं अपनी भी रह सकी, अपने ही साथ अपने घर ठहर सकी? भटकती ही चली गई वह, उस वर्द्धमान की खोज में, जो स्वयं ही अपने आप से नाता तोड़, जाने किस 'आत्म' की खोज में अभिनिष्क्रमण कर गया था, जिसे वह जान कर भी जानता नहीं था। जिस वर्द्धमान को स्वयं ही अनेक विनाशों और मौतों से जूझते चले जाना पड़ा, अपने को रखने और पाने के लिए।

...और कहां-कहां न भटकी वह चंदना? कैसे-कैसे कष्ट उसने झेले। क्या मैं उसका साथ दे सका? क्या वह मेरा पीछा कर मुझे पकड़ सकी? और फिर कौशांबी की उस हवेली के तलघर की देहरी पर, बेड़ियों जकड़े पैरों वाली उस बंदिनी चंदना से साक्षात हुआ था। उसका वह बाला-सौंदर्य जाने कहां खो चुका था। उसका वह आम्रपाली के केशकलाप को भी लज्जित कर देने वाला केश-वैभव कहां चला गया था। मुंडिता, दासी, बंदिनी, विवश, लाचार, भूखी-प्यासी, उस अतिथि की प्रतीक्षा में आकुल, जो आया भी, तो बेड़ियां भले ही टूटी हों, स्वर्ग से मणि-मुक्ता भले ही बरसे हों—पर वह अतिथि क्या रुक सका? क्या वह चंदना को और भी बड़े और चरम विरह का आघात देकर, उससे पीठ न फेर गया? क्या उसकी पुकार को अनुत्तरित छोड़, वह अपनी राह पर एकाकी पलायन न कर गया?

कितना न प्यार मेरे जीवन में आया। मां और पिता की वैभव और ऊष्मा से लचकती गोदियां। शालिनी, काली, चंदना, चेलना, आम्रपाली, श्रेणिक, ...ओह याद आया, अभिन्न लगता मित्र सोमेश्वर, और वह निरी विदेहिनी आत्मा लगती सुकोमला बाला वैनतेयी। और वे आर्यावर्त की चुनिंदा श्रेष्ठ सुंदरियां, जिन्होंने अपने अंग-अंग से, मेरे अंग-अंग और अणु-अणु को दुलराया। जिनके लावण्य और यौवन ने मुझे चारों ओर से ढांप कर, मेरे समूचे अस्तित्व को उमड़-उमड़ कर पीया और कृतार्थ किया। कितने सुंदर ममताविल मुखड़े, कितनी बलाएं लेती बांहें, ओवारने लेते आंचल, मुझे बांधने को मचलती कितनी परस कातर भुजाएं, उफनाती गोदियां। प्यार और सौंदर्य के कितने समुद्र मेरे चारों ओर उमड़े। पर...पर...कहां है आज वह सारा वैभव? वे सारे प्यार, सौंदर्य, कोमलताएं—मेरे हाथों की अंजुलियों में से आरपार बह जाती लहरों की तरह, काल के जाने किन अज्ञात तटों में जा कर विलीन हो गए।

...कितने रूप, आकार, मुखड़े, यौवन से प्रदीप्त चेहरे, कितने आत्मीय परिचित व्यक्तित्व। कितने वैभव, ऊष्माभरे महल, नगर, साम्राज्य, सत्ताएं। महाकाल के समुद्र पर भव्य तरंग-मालाओं की तरह उठे और विलीन हो गए। कल तक जो दिखाई देता था, वह आज कहीं नहीं है, फिर कभी न दीखेगा। और हम शायद उसे भूल भी जाएंगे।

तो क्या रूप-नाम-वैविध्य, आकार-प्रकार का यह जगत कोई अस्तित्व नहीं रखता? क्या इन बदलती रूप-पर्यायों का कोई अर्थ नहीं, अभिप्राय नहीं, कोई सार्थकता नहीं?... किंतु जब ये आविर्मान होते हैं, अनेक संबंधों में घटित होते हैं, तो इनकी कोई मौलिक सत्ता तो होनी ही चाहिए। इनका प्रकट होना ही अपने आप में इनका अर्थ और प्रयोजन सूचित करता है। तो निश्चय ही कोई सत् पदार्थ होना चाहिए। कोई संदर्भ, कोई परिप्रेक्ष्य, कोई स्रोत होना चाहिए, जहां से ये आते हैं, और जिसमें फिर पर्यवसान पा जाते हैं। कोई ऐसा शाश्वत, नित्य आयतन-आधार होना चाहिए, जिसमें ये उठते और मिटते हैं। क्या वह मूल द्रव्य, वह पदार्थ, वह सत्ता ध्रुव नहीं, जिसमें से ये सारी पर्याएं संभव होती हैं? अनंत-संभव द्रव्य यदि सत् है, नित्य है, तो ये पर्याएं भी क्या अपने सारे परिवर्तनों के बावजूद, अपने घटित होने के भाव और अर्थ-प्रवाह में कोई शाश्वत अभिप्राय नहीं रखतीं?

प्रतीति हो रही है, कि सत्ता अपने उत्पाद और व्ययात्मक परिणमन में अनित्य होते हुए भी, अपने किसी ध्रुवत्व में नित्य भी है। वह नित्य भी है, अनित्य भी है। नित्यानित्य हो कर—इन दोनों से परे, बस, वह केवल है। और उस नितांत होने में—क्या त्रिशला, वैनतेयी, चंदना, चेलना, सोमेश्वर—हर संभाव्य व्यक्ति और संबंध, अपनी भाव-सत्ता में, अर्थवत्ता में नित्य सार्थक नहीं है? निश्चय ही है। पर यदि अन्यथा कुछ है, तो उसका भी मुझे प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना होगा। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेख और मौलिक कहानियों- कविताओं का स्वागत है

•

प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•

लिखावट साफ-सुथरी बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•

महिलाओं, किशोर और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अशोक वाजपेयी की कविताएं

बहुरि अकेला

कुमार गंधर्व के लिए विदागीत शृंखला से

झरती हुई पत्ती जानती है कि वह मरने जा रही है ?
सरलीकृत समय में कठिन शब्द जानता है कि
एक दुर्बोध कविता में उसका जाना उसका अंत है ?
राग के खंडहर में भटक गया सुर पहचान पाता है कि
यह उसका लोप है ?
जो नहीं है उसके कई नाम हैं
लोप अनुपस्थिति अंत समापन मृत्यु अवसान
पर सभी उसके होने को याद करते हुए
कोई भी नहीं जो उसके न होने को व्यक्त करे
न होना भाषा या कविता में संभव ही नहीं है
समय से बाहर कदम रखना भाषा से भी बाहर जाना है

•

टूटी हुई सीढ़ियां बावड़ी में नीचे पानी में डूबी हुई
सूर्यास्त में समाप्त हो गया एक प्राचीन गलियारा
सूखी पत्तियों के ढेर में ढंका हुआ एक बुझा बिखरा चूल्हा
अपने कागजों में पीली पड़ गई एक पुस्तक
अंतरिक्ष में भटकता हुआ किसी लुप्त भाषा का एक जर्जर
शब्द
किसी बुढ़िया की धुंधलाती याद में बची रह गई कोई
नटखट हरकत
आत्मा के पुराने घाव की तरह सहमा रह गया
मकान के गिरते पलस्तर का एक चित्रित चकत्ता
पुलिया के नीचे बहते बरसाती पानी में रेंगते कीड़ों का
आर्त्तनाद
आकस्मिक अवसान के पड़ोस में सहमा-सा गया जन्मदिन
पत्तियों सीढ़ियों शब्दों दुखों घावों के शिल्प से
जो रचा जाता है सरल-सा दीखता जीवन
मृत्यु उसे पूर्ण कर देती है और
जिज्ञासा के बाहर

•

यह सयानी होती ढीली पड़ती त्वचा में
नवजात-सी कंपकंपी क्यों ?
पतझरे वृक्ष की किसी दिगंबर शाखा पर
एक किसलय की हरी सुगबुगाहट कैसी ?
यह मृत्यु की खोखली आंखों में
जासूस की तरह
ताक-झांक करता जीवन कहां से ?

•

नदी बिलकुल शांत कभी नहीं हो पाती चाहकर भी
कोई न कोई आवाज या सन्नाटा गूंजता हुआ-सा
उसके तट पर उसके मझधार में किसी चट्टान से नीरव
टकराते उसके जल में
नदी बहती है धरातल पर सूखकर रेत के नीचे थमकर
प्रतिपल जाती हुई अपने विलय की ओर
फिर भी उच्छल
धूप अंधेरे लू-लपट
सुख की झूलती हुई डालों
दुख के खिसकते-ढहते ढूहों से
हर सर्वनाम को लीलता हुआ
आदि और अंत से उदासीन
सिर्फ बहता चलता है जल
जिसे शायद पता ही नहीं चलता कि वह नदी है ❖❖

शीलन

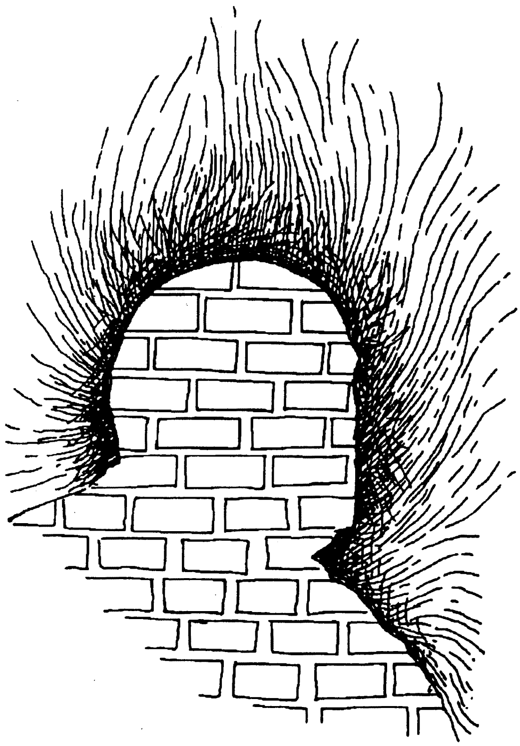

चूंकि आत्मा बाह्य प्रकृति के जगत में और मनुष्य के भीतर भी विद्यमान है, इसलिए मनुष्य के मन में प्रकृति के प्रति आदर और पूजा का भाव पैदा करने तथा प्रकृति के विरुद्ध उसकी लूट-खसोट को मर्यादित और नियंत्रित बनाने के लिए धर्म की आवश्यकता है, अर्थात् सच्चा धर्म और बुद्धि दोनों निरोग और उपजाऊ भूमि की रक्षा करने वाले हैं। विज्ञान प्रकृति का आदर करवा सकता है, परंतु उसकी पूजा और उससे प्रेम करने की प्रेरणा नहीं दे सकता। इस प्रकार मनुष्य के लिए स्थाई अन्न-व्यवस्था करने और मनुष्य तथा पृथ्वी और उसके अन्य सब प्राणियों के बीच घनिष्ठ अन्योन्याश्रय संबंध बनाए रखने के लिए धर्म की आवश्यकता है। याद रखिए, मैं धार्मिक संस्थाओं की बात नहीं कर रहा हूं, परंतु धर्म की बात कर रहा हूं।

—रिचर्ड बी. ग्रेग

सुख सबके लिए अभीप्सित है, लेकिन कई बार सुख की अभिलाषा में व्यक्ति अनहद दुखों को आमंत्रित कर लेता है। सुख को परिभाषित करते हुए कहा गया—'सुष्ठुः खेभ्यः सुखः। अनुकूल वेदनीयं सुखम्'। अर्थात्—जो इंद्रियों के लिए अच्छा हो, जो अनुकूल संवेदन हो—वही सुख है। लेकिन श्रेय से विरहित अनुकूलता कभी शाश्वत सुख का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती।

शाश्वत सुख का मार्ग

❑ साध्वी स्वस्तिकाश्री

सिकन्दर महान डायोजिनीज के पास पहुंचे। समुद्र के किनारे धूप सेवन के लिए डायोजिनीज लेटे हुए थे। सिकन्दर महान ने उनसे अपने साथ चलने का निवेदन किया। अपनी इच्छा का मालिक डायोजिनीज भला क्यों किसी की आज्ञा स्वीकार करता, निवेदन, आग्रह, आज्ञा—सब व्यर्थ गया। बड़े आश्चर्य के साथ सिकन्दर महान को इस फकीर की फकीरी बड़ी मन भाई। वह चरणों में झुकता हुआ डायोजिनीज से बोला, 'कुछ तो आज्ञा कीजिए! आपकी सेवा में मैं क्या कर सकता हूं?' डायोजिनीज ने अलमस्ती से कहा, 'आपके इस तरह खड़े रहने से सूर्य की आती हुई किरणें रुक गई हैं। आप थोड़ा एक ओर हो जाएं, यही सेवा होगी।' हतप्रभ-सा सिकन्दर एक ओर हट गया। आज्ञा स्वीकार करने के सिवा उसके पास कोई विकल्प न था। सिकन्दर के दिमाग में प्रश्न कौंधता होगा कि कौन-से सुख और शांति के साम्राज्य में डूबा है यह फकीर। दुनिया भर के सुख क्या नगण्य हो चुके हैं?

बाहरी सुखों को ही सुख समझने वाला सम्राट क्या समझ पाता कि सूरज की खुली धूप के बहाने कौन-सा सुख डायोजिनीज को मिल रहा है।

सुख सबके लिए अभीप्सित है, लेकिन कई बार सुख की अभिलाषा में व्यक्ति अनहद दुखों को आमंत्रित कर लेता है। सुख को परिभाषित करते हुए कहा गया—'सुष्ठुः खेभ्यः सुखः। अनुकूल वेदनीयं सुखम्'। अर्थात्—जो इंद्रियों के लिए अच्छा हो, जो अनुकूल संवेदन हो—वही सुख है। लेकिन श्रेय से विरहित अनुकूलता कभी शाश्वत सुख का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती। केवल इंद्रिय व मन की अनुकूलता और प्रियता से जुड़ा सुख कभी दुख से रिक्त नहीं होता। ऐसी अवस्था में एक छोर पर सुख है, तो दूसरे छोर पर दुख जुड़ा रहता है। इसीलिए नीतिकारों ने सुखी बनने का उपाय बताते हुए कहा है—

आयावयाही चय सोउमल्लं
कामे कमाही कमियं खु दुक्खम।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं
एवं सुही होहिसी संपराए।

अर्थात्—अपने को तपा। सुकुमारता का त्याग कर, विषय-वासना का अतिक्रमण कर—इससे दुख अपने आप अतिक्रांत होगा। द्वेष-भाव को छिन्न कर, राग-भाव को दूर कर—ऐसा करने से तूं संसार में सुखी होगा।

सुख का प्रथम सोपान है—आतापना—अर्थात् अपने आप को तपाना। जीवन एक संघर्ष है। विविध परिस्थितियों के ताने-बाने मिल कर ही जीवन को जीवंतता दे पाते हैं। बाह्य व आंतरिक विविध परिस्थितियां व्यक्ति को प्रताड़ित करती हैं, लेकिन जैसे सोना आग में तप कर अधिक निखर जाता है, वैसे ही विविध परिस्थितियों से गुजर कर सहिष्णु व्यक्ति अपने जीवन रूपी स्वर्ण में निखार ले आता है। सदा के लिए सुखी हो जाता है।

सुकुमारता छोड़ें

सुकोमल व्यक्ति का साधना के कठोर मार्ग पर चलना कठिन होता है—सुकुमारता तन की हो, मन की हो या वचन की हो—साधना में यदि व्यवधान बनती है तो उचित नहीं। सुकुमारता दृढ़ संकल्प में कई बार बाधक हो जाती है, परिस्थितियों के झूले में मन भी झूलने लगता है। व्यक्ति संकल्प पथ पर अडिग नहीं रह सकता। इसी तरह तन की सुकुमारता पराक्रम के पथ पर बढ़ने में पैरों को रोक देगी तब श्रेयस की दिशा में गति नहीं आ सकेगी और वचन की

सुकुमारता अनिश्चितता या अविश्वसनीयता को जन्म दे सकती है। व्यवहार को प्रधानता देते हुए यदि कोई व्यक्ति हर संभव-असंभव कार्य में 'हां' ही 'हां' कहता चला जाए तो वह खुद समस्या में फंस जाएगा।

ऐसी सुकुमारता को छोड़ने से ही सही चिंतन और निर्णय व सही क्रियान्विति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

कामना का अतिक्रमण करें

व्यक्ति इच्छाओं के जगत में जीता है। इच्छा आपूर्ति को ही वह सामान्यतया सुख का मार्ग समझता है। इच्छाएं आकाश के समान अनंत हैं।

कोई व्यक्ति दो वस्त्रों में ही सुखी है, कोई सौ में भी कमी महसूस कर दुखी होता है। किसी को दूसरे समय के भोजन की भी चिंता नहीं, कोई सात पीढ़ियों की चिंता से दुखी बना हुआ है। जो है, उसमें सुख को नजर-अंदाज कर, व्यक्ति जो नहीं है, उसके दुख में दुखी हो रहा है। कामनाएं दुख का मूल है। इसीलिए कामनाओं से ऊपर उठने की बात बार-बार कही गई। अतः कामनाओं के अतिक्रमण से ही दुख अतिक्रांत होगा।

द्वेष-भाव को छिन्न करें

पुद्गलों के प्रति जितनी आसक्ति है, कर्मों की ओर उतना ही आकर्षण है। जिनकी आत्मा से जितनी अनुरक्ति है—उतना ही उनका मोक्ष की ओर गमन है। इसीलिए संयम में स्थित होना और अपने आपको बाहर से हटाना ही सुख का मार्ग है।

विषयानुराग से मन का निग्रह करें

पुद्गल से पुद्गल को तृप्ति मिलती है। आत्मा को आत्मा से तृप्ति मिलती है। इसीलिए महान लक्ष्य का वाहक कभी तुच्छ पुद्गलों के सुखों में नहीं उलझता। उसकी हर प्रवृत्ति आत्मा की तृप्ति, आत्मा की प्रसन्नता से जुड़ी रहती है। आत्मा की प्रसन्नता का एकमात्र मार्ग समता है। इसीलिए रागभाव का अपनयन कर व्यक्ति सुखी हो सकता है। रागभाव का निर्मूलन होने पर ही 'सदानन्दः स्पंदः' की स्थिति संभव है।

शाश्वत सुख, अबाधित आनंद, अविरल शांति का उपाय संयम है। विषयानुराग त्यागने से सच्चा सुख स्वतः मिल जाएगा। ❖

मेरी आत्मा मुझसे बोली और उसने उन सब वस्तुओं को, जिनसे दूसरे आदमी घृणा करते हैं, प्रेम करने का परामर्श दिया और उन लोगों को मित्र बनाने की सलाह दी, जिनको दूसरे लोग बदनाम करते हैं।

मेरी आत्मा ने मुझे परामर्श दिया और प्रकट कर दिया कि प्रेम केवल प्रेमी को ही प्रतिष्ठित नहीं करता, वरन जिसे प्रेम किया जाता है, उसको भी महानता प्रदान करता है। इससे पहले प्रेम मेरे लिए दो समीपवर्ती फूलों के बीच एक जाले के धागे के समान था, पर अब वह एक ऐसा प्रभामंडल बन गया है, जिसका न आदि है, न अंत, और जो हो चुका, उसको आवृत्त किये हुए है और जो भविष्य में होगा, उसको आलिंगन में बांधने के लिए सदा-सदा के लिए क्षुब्ध रहेगा।

मेरी आत्मा ने मुझे परामर्श दिया और मुझे रूप-रंग से ढंके सौंदर्य को देखना सिखाया। मेरी आत्मा ने मुझे उन कुरूप समझी जाने वाली सब वस्तुओं को तब तक निरंतर देखने का आदेश दिया, जब तक कि वे सुंदर न दीखने लगें। पहले सौंदर्य मुझे धुएं के स्तंभों के बीच झिलमिलाते दीपकों के समान दिखाई देता था, पर अब धुआं उड़कर समाप्त हो गया और मैं सिवा दीप-शिखा के और कुछ नहीं देखता।

मेरी आत्मा ने मुझसे कहा और यह आदेश दिया कि मैं उन स्वरों को सुनूं, जो न तो वाणी से फूटते हैं और न कंठ से। उस दिन से पहले मैं अस्पष्ट-सा सुनता था और सिवा चिल्लाहट और शोर के मुझे कुछ नहीं सुनाई देता था। पर अब मैंने मौन को भी सुनना सीख लिया है। अब मैं इसके तारों में से युग-युग के गीत सुन सकता हूं, जो अंतरिक्ष की प्रार्थनाएं उच्चारण करते हैं और अनंत काल के रहस्यों को प्रकट करते हैं।

—खलील जिब्रान

महावीर सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र की बात कहते हैं। वह इस दृष्टि से, आज के दौर में बहुत मौजूं सिद्ध होती है। क्लेश और चिंता करने से क्रोध और कामना के अति सेवन से आयुष्य घटता है और रोग बढ़ते हैं, यह बात वैज्ञानिक ढंग से रख सकें तो आज के आदमी के गले उतरेगी। अब तक अहिंसा को एक धार्मिक आदर्श के रूप में मान्य करने की हमें आदत पड़ी है। अब उसे व्यावहारिक अनिवार्यता गिनना शुरू करना चाहिए यह जरूरी है।

अहिंसा : व्यावहारिक अनिवार्यता

❑ गुणवंत शाह

एक चीनी काव्य पंक्ति याद आती है। एक पक्षी तोप के मुंह में घोंसला बना कर अपने अंडे से रहा था। एक तरह से देखें तो पक्षी जैसी ही अपनी स्थिति नहीं है क्या? महावीर कहते हैं कि जीवमात्र जीने की इच्छा करता है। किसी को मरना अच्छा नहीं लगता। जीने की अभिलाषा सबको होती है, अस्तु जीने का अधिकार सबको होना चाहिए। कई वर्ष हुए भगवान बुद्ध की 2500वीं जयंती देश में मनाई गई। तब पंडित नेहरू ने कहा था कि हमें बुद्ध और युद्ध के बीच चयन करना है।

स्थूल हिंसा की शुरूआत आदि-मानव ने शायद नाखून से शुरू की होगी। नख-शक्ति का विस्तार, उसने जब पहली बार दंडाबाजी की, तब हुआ होगा। छुरी और तलवार उसके नाखूनों का ही विस्तार माना जाएगा। बंदूक भी नाखूनों का ही विस्तार है। मानव के नख के विकास के परिणाम स्वरूप अणु-बम तैयार हुआ है। इस प्रकार हिंसा के क्षेत्र में तकनीकी विकास-यात्रा बेरोकटोक बढ़ती जा रही है। विगत 2500 वर्षों में वह चरम सीमा पर पहुंची है।

अहिंसा के क्षेत्र में ऐसी तकनीकी संभव है क्या? ऐसी तकनीकी विकसित हो इसकी शर्त यह है कि अहिंसा एक धार्मिक सद्गुण मात्र न रहकर आदमी के अस्तित्व की व्यूहरचना (स्ट्रैटेजी) बने। अहिंसा के क्षेत्र में ऐसी तकनीक की शुरूआत 'इकोलॉजी (जीव-संतुलन शास्त्र) से हो सकती है, ऐसा लगता है।

हिंसा के क्षेत्र में या युद्ध के मैदान में आवश्यक ऐसी गणना या व्यूह रचना अहिंसा के क्षेत्र में भी हो सकती है, यह हमारे मन में आसानी से नहीं बैठता। आलबर्ट श्वाइट्जर जीवमात्र के प्रति आदर (रेवरेंस फॉर लाइफ) की बात करते हैं, तब ऐसी किसी व्यूहरचना की छोटी-सी शुरुआत होती है। ऐसी किसी व्यूह रचना की आधारशिला धार्मिक ही नहीं वैज्ञानिक भी होनी चाहिए।

अश्वत्थ (पीपल) पवित्र है इसलिए उसे नहीं काटना चाहिए, ऐसा कोई कहे तो अब वह मान्य नहीं होगा। अब उसे न काटने के लिए और उसका रखरखाव करने के लिए वैज्ञानिक भूमिका उपलब्ध है। नाइट्रोजन साइकिल के नाम से, सिंबियोसिस के नाम से, लॉ ऑफ रिटर्न के नाम से जमीन का क्षरण रोकने के लिए वृक्षों के बचाने की बात गले उतरे यह वांछनीय है। चीनियों ने फसल को नुकसान पहुंचाती गौरैयों को मार डाला, इससे अकाल पड़ा, यह जब इकोलॉजी के नाम से कहा गया तो सबको मान्य हुआ और चीन ने गौरैया मारना बंद किया।

अमेरिका के विख्यात जीव-वैज्ञानिक रेचल कार्स ने 'मौन वसंत' (सायलेंट स्प्रिंग) पुस्तक लिखी और डी.डी.टी. के प्रयोग के कारण फ्लोरिडा में वसंत ऋतु पक्षियों के कलरव से विहीन आई और जीव सृष्टि का संतुलन बिगड़ा इस बाबत चौंकाने वाली बात कही। इसी प्रकार बेरी कमांडर की 'द क्लोजिंग सर्कल' और ज्हॉन मॅडोक्ष की 'द डूम्सडे सिंड्रोम' जैसी पुस्तकें अहिंसा के धार्मिक समर्थन में नहीं लिखी गई हैं। बाघ के शिकार पर लगा प्रतिबंध केवल जीवदया से प्रेरित होकर नहीं लगाया गया है। अब तक आदमी को बाघ से बचाना था, अब बाघ को कैसे बचाएं यह प्रश्न है। जंगली प्राणियों का उन्मूलन रुकना चाहिए ऐसा फरमान सरकार ने जैनियों की ममता की रक्षा करने हेतु नहीं निकाला है। सभी प्राणियों की कुदरत के संतुलन में कोई-न-कोई भूमिका है, ऐसा अब वैज्ञानिक रीति से समझ में आया

है। रूस में साइबेरिया के उत्तरी प्रदेशों में घास का उत्पादन घटा इसका कारण एक प्रकार की चींटियों का मार डाला जाना था, ऐसा समझ में आया। अब इन चींटियों को बचाने के प्रयत्न प्रारंभ हुए हैं, यह महावीर के प्रति भक्ति के कारण थोड़े ही हुए हैं!

औद्योगिक प्रगति के नाम पर हमने शेयर कैपिटल में से डिविडेंड वितरण करना शुरू किया है ऐसा लगता है। कोई सयाना आदमी शेयर कैपिटल में से भला हिस्सा बंटाता है क्या? जिस प्रकार पृथ्वी की जलसंपत्ति, जीवसंपत्ति और वन-संपत्ति हम फूंक रहे हैं और उसे देखते हुए कालांतर में हमें यह सौदा महंगा पड़ेगा ऐसा नहीं लगता क्या? डार्लिंगटन कहता है कि पृथ्वी पर अपनी शक्ति बढ़ाने हेतु आदमी द्वारा ढूंढ़ा गया प्रत्येक साधन उसके उत्तराधिकारियों के लिए धुंधला भविष्य देने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। एलविन टॉफ्लर इसके लिए उत्तरदाई तकनीकी की हिमायत करता है। सोने का अंडा देने वाली मुर्गी को मारकर सभी अंडे एक साथ प्राप्त करने की चेष्टा अब छोड़नी होगी, ऐसी परिस्थिति आ गई है।

एक बार बहुत बड़ा युद्ध हुआ। एक बंदर ऊंचे पेड़ पर चढ़ गया। युद्ध में बहुत आदमी मारे गए। युद्ध पूरा हुआ तब बंदर पेड़ पर से उतरा। उसने भगवान से प्रार्थना की, 'हे भगवान, तू अब वानर से नर बनाने का काम बंद कर दे तो अच्छा।' महावीर ने अपरिग्रह की बात कहकर एक आदर्श स्थापित किया है। तनिक गहराई से विचार करें तो ज्ञात होगा कि अहिंसा और परिग्रह में अधिक मैत्री नहीं है। कहा जाता है कि परिग्रह में से विग्रह पैदा होता है।

स्थूल अहिंसा विकसित हो इतना ही काफी नहीं है। मैं किसी पर क्रोध करता हूं तब दूसरा दुखी हो यह तो ठीक, पर मेरा ही ब्लडप्रेशर नाहक बढ़ता है। ऐसा करने से मुझे ही असुख होता है। फादर वालेस कहते हैं कि ईर्ष्या करने से पित्त बढ़ता है। डॉक्टर कहते हैं कि खूब टेंशन या चिंता करने से 'पेप्टिक अल्सर' होता है। इसी प्रकार गुण-विकास की भूमिका भी वैज्ञानिक होनी चाहिए।

महावीर सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र की बात कहते हैं। वह इस दृष्टि से, आज के दौर में बहुत मौजूं सिद्ध होती है। क्लेश और चिंता करने से क्रोध और कामना के अति सेवन से आयुष्य घटता है और रोग बढ़ते हैं, यह बात वैज्ञानिक ढंग से रख सकें तो आज के आदमी के गले उतरेगी। अब तक अहिंसा को एक धार्मिक आदर्श के रूप में मान्य करने की हमें आदत पड़ी है। अब उसे व्यावहारिक अनिवार्यता गिनना शुरू करना चाहिए यह जरूरी है। हिंसा-अहिंसा को पाप-पुण्य की तराजू पर नहीं, पर अस्तित्व की गिनती और सुख-शांति की त्रैराशिक पर तौलना होगा ऐसी स्थिति है। स्थूल और सूक्ष्म हिंसा को दूर रखना केवल स्वार्थ की दृष्टि से भी उपकारक है, यह बात समझने की जरूरत उपस्थित हुई है।

विख्यात वैज्ञानिक स्किनर, जिस आचरण की तकनीकी विकसित करने की बात करते हैं, वह इस अर्थ में बहुत ही सूचक है। वे कहते हैं कि 'आदमी पर्यावरण (इनवाइरनमेंट) अधिकाधिक समझता जा रहा है पर अपनी जात की बाबत की समझ उसी तेजी से नहीं बढ़ी है।' अब वह स्वार्थ (स्व का अर्थ) को समझे यह जरूरी है।

इस अर्थ में फिर स्वार्थी और श्रेयार्थी के बीच अधिक संघर्ष नहीं होगा। तोप के मुंह में बैठा पंछी यह बात कब समझेगा? ❖

जीवन में जब प्रत्येक प्राणी के प्रति सम और सहज भाव उत्पन्न होने लगते हैं, तब जीवन-चर्या समता और समत्व से संपृक्त हो उठती है। महात्मा गांधी कहा करते थे, 'अनासक्ति का दूसरा नाम समभाव है।' समता के संचरण से जीवन में मान और अभिमान के लिए कोई ठिकाना शेष नहीं रहता। गांधीजी की मान्यता थी, 'धन, सत्ता और मान मनुष्य से कितने पाप और अनर्थ कराते हैं।' इनसे बचने के लिए जीवन में प्रेम का उद्भव आवश्यक है। जब सारे मान समान हो जाते हैं तब प्रेम की उत्पत्ति होती है। प्रेम-पूर्ण व्यवहार सर्वोदय की भावना को प्रोन्नत करता है।

—महेन्द्र सागर प्रचंडिया

'बरखुरदार, तुम अपने बाप का नाम खूब रोशन करोगे।' मेरा पेपर उनके हाथ में था। मैं चुपचाप उनकी कुर्सी के निकट खड़ा रहा। उन्होंने मेरे पिता को बुलवा भेजा। तब तक वे खूं-खूं करते हुए अखबार पढ़ते रहे, जैसे शेर हमले के लिए अपने को तैयार कर रहा हो। थोड़ी ही देर में मेरे पिता आते हुए दिखाई दिए। मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई।
'बरखुरदार, तुम भी मेरे विद्यार्थी रहे हो, मगर कभी तुमने सौ में से एक सौ दस नंबर पाए हैं?'

एक सौ दस बटा सौ

बालकथा

❑ रवीन्द्र कालिया

मैं पढ़ने में कभी इतना कमजोर नहीं रहा कि फेल हो जाऊं और न ही इतना तेज था कि प्रथम आ सकूं। हमारे स्कूल में होशियार बच्चों के लिए एक अलग सैक्शन था—'ए' सैक्शन। 'ए' सैक्शन में केवल वे ही बच्चे प्रवेश पा सकते थे जो साठ प्रतिशत अंक प्राप्त करने की क्षमता रखते हों। मैं इस कतार में नहीं आता था। मगर मेरी हार्दिक इच्छा थी कि मैं 'ए' सैक्शन में ही रहूं। मेरे पिता चूंकि उसी स्कूल में पढ़ाते थे, मुझे दसवीं में 'ए' सैक्शन में किसी तरह सिफारिश से प्रवेश मिल गया। मेरे अलावा एक और लड़का था। वह किसी बैंक के मालिक का लड़का था और खानदानी रईस। उसे भी 'ए' सैक्शन में प्रवेश मिल गया, जबकि वह पढ़ाई में मुझसे भी गया-गुजरा था। उसका नाम वीरेन्द्र था। वह पढ़ाई में जरूर कमजोर था मगर उसका रहन-सहन और कपड़े पहनने आदि का ढंग कई प्रिंसिपलों, इंजीनियरों तथा उद्योगपतियों के लड़कों से अधिक प्रभावित करता था। यद्यपि मैं और वीरेन्द्र क्लास के सब से कमजोर लड़के थे मगर अध्यापक लोग हमारा विशेष ध्यान रखते थे। मेरा मेरे पिता के कारण और वीरेन्द्र का उसके खानदान के कारण। शायद वह स्कूल का एकमात्र लड़का था जो कार में स्कूल आता था और कार में वापिस जाता था। वीरेन्द्र से मेरी दोस्ती होते देर न लगी। मैं अगर पढ़ाई में कमजोर था तो केवल अपनी लापरवाही की वजह से, जबकि वीरेन्द्र अतिरिक्त लाड-प्यार में पला ऐसा बच्चा था जिसे स्कूल के अध्यापक पर उतना भरोसा नहीं था जितना अपने घर के अध्यापक पर। वह मुंह में टॉफी रख लेता और चूसता रहता। मैं चूंकि उसका मित्र था, मेरे मुंह में भी लगातार टॉफी रहती। घर में मेरी पढ़ाई का कोई इंतजाम नहीं था। मेरे पिता भी घर में मुझे नहीं पढ़ा पाते थे, क्योंकि उन्हें मकान बनवाना था और मकान बनवाने के लिए पैसे की जरूरत थी। वे दिन-रात ट्यूशनें करते, दूसरे-दूसरे बच्चों को पढ़ाते, जबकि उनका अपना बच्चा केवल सिफारिशों के बल पर 'ए' सैक्शन में टिका था। वीरेन्द्र की हालत मुझसे भी चिंताजनक थी। इन सब स्थितियों में भी मैं उससे अधिक अंक प्राप्त करता था।

मुझे सबसे अधिक आश्चर्य तो तब हुआ जब भैरों बाजार के एक हलवाई के लड़के ने, जिसका नाम रोशन था, छमाही परीक्षा में तमाम प्रिंसिपलों, इंजीनियरों और उद्योगपतियों के लड़कों को पछाड़ दिया। उस दिन मैंने महसूस किया कि प्रथम कोई भी आ सकता है, उसका बाप चाहे प्रिंसिपल हो या हलवाई। बाद में मेरी दोस्ती रोशन से हो गई। हम दोनों एक ही वर्ग से आए थे। यानी पूरी क्लास में बगैर इस्त्री किए कपड़े पहनने वाले हम दो ही थे। हम दोनों में एक और समानता थी। हम लोगों के घर वालों ने हमें गर्म कोट तो सिलवा दिए थे, मगर पतलून की जगह हम पाजामा पहनने को विवश थे। वह मेरे यहां आने लगा। उससे प्रेरणा पा कर मैं बहुत आगे

निकल जाता, मगर तब तक वार्षिक परीक्षा में बहुत कम समय रह गया था।

हमारे स्कूल में गणित सैकेंड हेडमास्टर पढ़ाते थे। लंबी-चौड़ी देह, बड़ी-बड़ी मूंछें। बच्चों पर उनका इतना प्रभाव था कि उनके क्लास में आते ही सन्नाटा खिंच जाता। रोशन के संपर्क में आने के बाद मैं क्लास में टॉफियां चूसने के बजाए अध्यापक की तरफ ध्यान देने लगा था। अचानक मैंने महसूस किया कि ब्लैक बोर्ड पर लिखे अक्षर मुझे धुंधले-से दिखाई देते हैं। इस से पहले मेरे भाई की नजर कमजोर हो चुकी थी। माता-पिता में इस बात को ले कर बहुत चिंता रहती थी। मैंने सोचा, मैं अपनी आंखों के बारे में बताऊंगा तो वे और दुखी होंगे। मैं भाई की शीशी में से विटामिन 'ए' निकाल-निकाल कर खाने लगा। घर में आंखों की देख-रेख के बारे में एक विश्वविख्यात पुस्तक थी, मैं उस पुस्तक को पढ़ता और उसमें दिए गए व्यायाम करता। मगर आंखें और कमजोर होती चली गईं। मैंने अपने निकट के मित्रों को भी भनक नहीं लगने दी कि मेरी नजर कमजोर हो रही है। उस पुस्तक में मेरा इतना विश्वास था कि वर्षों मैं चुपचाप प्राकृतिक विधि से अपनी चिकित्सा करता रहा। अपनी कमजोर आंखों से ही मैंने सोलह जमातें पास कर लीं और रणधीर कालिज, कपूरथला में हिंदी का प्राध्यापक हो गया। चश्मा तो मैंने तब लगाया जब दयानन्द कालिज, हिसार में चला गया। अब सोचता हूं कि हाई स्कूल में ही चश्मा लगा लेता तो नजर इतनी कमजोर न होती और निश्चय ही तमाम परीक्षाओं में और अधिक अंक प्राप्त करता।

एक बार छमाही परीक्षा में बिना पढ़े-लिखे ही अधिक अंक प्राप्त करने का मैंने ऐसा प्रयत्न किया था जो आज तक नहीं भूला। उस परीक्षा में मुझे सौ में से एक सौ दस अंक प्राप्त हो गए थे। परीक्षक थे वही सैकेंड हेडमास्टर साहब। उन्होंने मुझे बुलवा भेजा तो मेरे प्राण सूख गए। वे लॉन में बैठे कुर्सी पर धूप ले रहे थे कि मैं पहुंचा। मुझे देखते ही वे पहचान गए कि मैं मास्टर रघुनाथ सहाय का बेटा हूं।

'बरखुरदार, तुम अपने बाप का नाम खूब रोशन करोगे।' मेरा पेपर उनके हाथ में था। मैं चुपचाप उनकी कुर्सी के निकट खड़ा रहा। उन्होंने मेरे पिता को बुलवा भेजा। तब तक वे खूं-खूं करते हुए अखबार पढ़ते रहे, जैसे शेर हमले के लिए अपने को तैयार कर रहा हो। थोड़ी ही देर में मेरे पिता आते हुए दिखाई दिए। मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई।

'बरखुरदार, तुम भी मेरे विद्यार्थी रहे हो, मगर कभी तुमने सौ में से एक सौ दस नंबर पाए हैं?'

'क्या मतलब?' मेरे पिता को यह सवाल बड़ा अटपटा लगा। उन्होंने उड़ती हुई नजर से मुझे अपराधी की तरह सैकेंड हेडमास्टर की कुर्सी के पीछे खड़ा हुआ देख कर जरूर सोचा होगा कि उन्हीं की औलाद ने आज कोई नया गुल दिखाया है। मैं अपने पिता के स्वभाव से परिचित था। उन पर हर चीज की दो ही प्रतिक्रियाएं होती थीं—पीठ थपथपाना या झापड़ पेश करना। झापड़, जिसे पंजाबी में चपेड़ कहते हैं, की संभावना से मैं दो कदम और पीछे हट गया।

'तुम्हारे बरखुरदार ने आज रिकार्ड तोड़ दिए हैं, उसे सौ में से एक सौ दस नंबर मिले हैं।'

'क्या मतलब?' मेरे पिता ने फिर पूछा।

'देखो अभी बताता हूं।' सैकेंड हेडमास्टर साहब ने हाथ पीछे ले जा कर मुझे अपनी तरफ खींचना चाहा, मगर मैं एक सुरक्षित फासले पर खड़ा था। मेरे पिता ने उनका इरादा भांप कर मुझे उनके आगे कर दिया, जैसे भेड़िए के सामने बकरी डाल दी हो।

सैकेंड हेडमास्टर साहब ने मेरे कान पकड़ लिए और धीरे-धीरे उमेठने लगे, 'बरखुरदार सौ में से एक सौ दस नंबर तुमने कैसे पा लिए?'

मैं चुपचाप सिर झुकाए खड़ा रहा।

'मैं पिछले तीस बरसों से पढ़ा रहा हूं, आज तक किसी ने सौ में से एक सौ दस नंबर नहीं पाए।' सैकेंड हेडमास्टर साहब, जिन्हें हम लोग सैकेंड मास्टर कहते थे, मेरे पिता की तरफ देखते हुए बोले, 'तुम्हारे साहबजादे को दस में से सात सवाल आते थे। इसने सात सवाल करने के बाद चार सवाल फिर कर दिए। मैं दस सवाल का दस-दस नंबर देता चला गया। जब आखिर में योग किया तो एक सौ दस।' सैकेंड मास्टर साहब ने मेरा कान इतनी जोर से उमेठा कि मेरी चीख निकल गई।

मेरी चीख सुन कर मेरे पिता का गुस्सा भड़क गया। उन्होंने बहुत कस कर मेरे दाहिने गाल पर एक तमाचा रसीद किया। मेरा गाल लाल हो गया होगा, मेरे गाल पर पिता की उंगलियां छप गई होंगी, मगर मेरे पिता ने तुरंत मेरे बाएं गाल पर उससे भी अधिक शक्तिशाली तमाचा जड़ दिया।

मैंने मन-ही-मन तय कर लिया घर जाकर अपनी अम्मां को अपने दोनों गालों पर छपी पिता की उंगलियां दिखाऊंगा और रो-रोकर उनको इतना प्रभावित कर दूंगा कि पिता को काफी उलझन हो जाएगी। मुझे विश्वास हो गया था कि मेरे पिता के इस अन्याय का बदला केवल मेरी अम्मां ही ले सकती हैं।

मेरे पिता मेरे दाहिने गाल पर एक और तमाचा जड़ने जा रहे थे कि सैकेंड मास्टर साहब ने उनका हाथ थाम लिया, 'बरखुरदार ने गलती तो बहुत बड़ी की है, मगर यह एक ऐसी गलती है जो किसी ने पिछले तीस बरसों में नहीं की थी। मगर इसने एक सवाल कम किया होता तो तुम्हीं इसे चूमते-चाटते कि बेटा सौ में से सौ नंबर पाकर तुमने बाप का नाम रौशन किया है। मुझे ताज्जुब तो इस बात का है कि इसने चौथा सवाल दोबारा क्यों कर दिया?'

मेरे पिता मुझे पीट कर वैसे ही पसीज चुके थे। सैकेंड मास्टर साहब की बात से उनके मन में मेरे प्रति थोड़ा स्नेह उभर आया। इस बात का अंदाज मैंने यों कर लिया कि वे चोर नजरों से मेरी तरफ बड़े पश्चात्ताप की मुद्रा में देख रहे थे।

छमाही परीक्षा के बाद जब 'ए' सैक्शन के दूसरे लड़के दिन-रात पढ़ाई में जुट गए, मुझे एक नया शौक लग गया। एक दिन मैं स्कूल के हाल के पास से गुजर रहा था कि मैंने देखा हमारे संस्कृत के अध्यापक एक अलमारी खोल कर किताबों की झाड़-पोंछ कर रहे थे। उन पुस्तकों के कवर मुझे बहुत अच्छे लगे। इससे पहले मैंने बच्चों की ही कुछ किताबें देखी थीं। स्कूल के वार्षिक उत्सव पर कुछ प्रकाशक स्कूल में शिक्षाप्रद पुस्तकों की दूकानें लगाते थे। हम लोगों को दो-एक पुस्तकें खरीद दी जाती थीं, जिन्हें हम एक ही दिन में पढ़ लेते थे। मगर शास्त्रीजी के पास बड़ी-बड़ी पुस्तकें थीं। एक पुस्तक नीचे गिरी हुई थी, मैं उठा कर पढ़ने लगा। खड़ा-खड़ा मैं कई पृष्ठ पढ़ गया। इस बीच आधी छुट्टी खत्म हो गई, मुझे अपने पास खड़ा देख कर शास्त्रीजी चौंक गए। वे अलमारी को ताला लगा रहे थे। उस दिन पहली बार मुझे पता चला स्कूल में कोई लायब्रेरी भी है।

शास्त्रीजी ने मेरे हाथ से ले कर पुस्तक देखी और पूछा, 'तुम मास्टर रघुनाथ सहाय के लड़के हो?'

'जी।' मैंने कहा और उनके निर्णय की प्रतीक्षा करने लगा।

'पढ़ लो, अच्छी किताब है, मगर पढ़ कर लौटा देना।'

मैंने पुस्तक ली और पानी की टंकी के पीछे जा कर पढ़ने लगा। जब छुट्टी की घंटी बजी तो क्लास रूम में जा कर बस्ता उठा लाया। वह पुस्तक थी—सेवा सदन। लेखक थे मुंशी प्रेमचन्द। पुस्तक में मेरा इतना मन लगा कि मैं स्कूल से घर लौटते हुए भी उसे पढ़ता गया। रात को मैं पुस्तक समाप्त करके ही सोया। मेरे पिता जब ट्यूशन पढ़ा कर लौटे तो उन्होंने मुझे जगता हुआ पाया, वे बहुत खुश हुए कि मैं पढ़ाई में अभी से जुट गया हूं।

यह मेरा साहित्य से प्रथम परिचय था। इससे पूर्व मैंने केवल जासूसी किस्म के ही उपन्यास पढ़े थे। दूसरे दिन मैंने स्कूल जाने से पहले उपन्यास बस्ते में रख लिया। सोचा शास्त्रीजी को लौटा कर नया उपन्यास लूंगा। क्लास में पहुंच कर मैंने कई लड़कों को उपन्यास की कहानी सुनाई। सबने उसे पढ़ने की इच्छा जाहिर की। मगर मैं उपन्यास लौटा कर दूसरा उपन्यास लेना चाहता था। आधी छुट्टी के समय जब मैंने उपन्यास निकालने के लिए बस्ते में हाथ डाला तो उपन्यास नदारद था। न मालूम किस लड़के ने मेरे बस्ते से निकाल लिया था। मुझे बड़ा कष्ट हुआ। अब शास्त्रीजी को क्या मुंह दिखाऊंगा और वे पहली पुस्तक वापस लिए बगैर अगली पुस्तक देंगे नहीं। मैंने बहुत खोज की। खाना भी नहीं खाया। मगर वह उपन्यास न मिला। न मुझे उपन्यास मिला और न मैं ही फिर कभी शास्त्रीजी से मिला।

मुझे माई हीरां दरवाजे पर एक दूकान का पता था, जहां उपन्यास वगैरह किराए पर मिलते थे। मैं वहां से पुस्तकें ला-ला कर पढ़ने लगा। वार्षिक परीक्षा नजदीक

आ रही थी, मगर मैं सर से पैर तक साहित्य में डूब चुका था। मेरी दुनिया, मेरा वतन बदल चुका था। मैं उत्तर प्रदेश के गांव में जीने लगा। प्रेमचन्द के हर पात्र से मेरा निकट का रिश्ता जुड़ गया था। होरी और घीसू मेरे मुहल्ले के लोग बन गए।

ऐसी स्थिति में मैंने हाई स्कूल परीक्षा पास की। हमारे घर में हिंदी कोई नहीं जानता था। मेरे पिता अंग्रेजी के अध्यापक थे और उर्दू पर उन्हें अच्छा अधिकार था। भाई ने भी हिंदी कभी नहीं पढ़ी। एक दिन जब मैं अपने बड़े भाई से साहित्य पर चर्चा करने लगा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने मेरी लिखी दो-एक कहानियां सुनीं और मुझसे पूछा, 'अच्छा, यह बताओ साहित्य किसे कहते हैं?'

मैं हक्का-बक्का रह गया। मैंने उपन्यास-कहानी खूब पढ़ रखे थे मगर साहित्य की समझ नहीं पैदा कर सका था। वह अपनी किताबों से एक किताब ढूंढ़ कर लाया और मुझे पढ़ाने लगा, 'हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें स्वाधीनता का भाव हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'

ये शब्द थे हिंदी के उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द के। 'संप्रतिवान' की ही तरह मैंने ये शब्द रट लिए। सुबह जब मैं देर तक सोता तो भाई मेरी खाट के पास खड़ा हो कर मुझे चिढ़ाता, 'अब और सोना मृत्यु का लक्षण है।' बाद में मेरे भाई ने एक दिन मुझे प्रेमचन्द का एक बड़ा चित्र ला कर दिया। मैंने वे शब्द चित्र के नीचे चिपका लिए। मैं विज्ञान का विद्यार्थी था, मगर साहित्य में मेरी रूचि बढ़ती गई। बाद में आकाशवाणी से मेरी रचनाएं प्रसारित होने लगीं। इससे पैसा भी मिलने लगा। स्कूल के किसी भी बच्चे से अधिक पैसे मेरी जेब में होते। जिस किताब को पढ़ने की इच्छा होती, मैं खरीद कर पढ़ता। पंजाब के दैनिक पत्रों के रविवारीय संस्करणों में मेरी रचनाएं छपने लगीं। मैं अभी कालिज में गया भी नहीं था कि डॉ. इन्द्रनाथ मदान, उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, मोहन राकेश से मेरा परिचय हो गया। उन दिनों श्री यश हिंदी मिलाप के संपादक थे। उन्होंने मुझे लिखने के लिए सदैव प्रोत्साहित किया। मैं जब अपने बचपन की तरफ देखता हूं, तो मुझे अपने स्कूलों की खूब याद आती है।

स्कूल में परीक्षा के अंतिम दिन हम लोग स्कूल को प्रणाम करके निकलते थे। मेरी माता का विश्वास था, इससे उसी क्लास में दोबारा नहीं जाना पड़ेगा। मुझे आज भी वह क्षण याद है, जब मैं हाई स्कूल की अंतिम परीक्षा देकर अपने स्कूल की बड़ी इमारत के सामने प्रणाम की मुद्रा में खड़ा था। उस समय एक ओर स्कूल छूटने का दुख था, दूसरी ओर कालिज में जाने का चाव।

❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

जैन भारती पाठक पहेली

जैन भारती के प्रति बढ़ती अभिरुचि को देखते हुए मार्च अंक से 'जैन भारती पाठक पहेली' शुरू की गई है। हमें आशा है, पाठकगण इसमें दिलचस्पी लेंगे और पाठकीय अभिरुचि का विकास करेंगे।—सं.

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के जुलाई, 2000 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के जुलाई अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 नवम्बर, 2000 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम दिसम्बर, 2000 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

1		2	■	3		4	■	5	
	■	6			■	7			■
8	9		■	10	11		■		■
■		■	■	■		■	12		13
14		15	■	16			■	■	
	■	17				■	18	19	
20	21		■		■	■			■
■		■	22		23	■	24		25
26		■		■	27			■	
28		■	29			■	30		

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली - 0008

नाम प्रतियोगी..उम्र............

पूरा पता...

....

....

बाएं से दाएं

1. हमें.......अलग विज्ञानों और विज्ञान वालों के विचारों की तुलना करनी होगी। [3]
3. यह जगत बिना आत्मा की.......नहीं है। [3]
5. दादी का भी कोई.......है। [2]
6. ....सहन, खान-पान तथा आचार-विचार। [3]
7. धार्मिक.......पर असीम उपकार किया। [3]
8. सर आर्थर एडिंग्टन,.......ह्वाटहेड जैसे वैज्ञानिकों ने ही समझा था। [3]
10. ....जाकर क्या करूं और एक कसाई के पास। [3]
12. गांधी-मार्ग इसी दिशा में एक ऐतिहासिक.......है। [3]
14. सभी धर्म.......हैं कि आदमी का संबंध। [3]
16. मुक्त भाव से.......का आचरण करते। [3]
17. धर्म शब्द से दूर.......वे नहीं चले। [4]
18. तरंग उठते ही आदमी.......हो जाता है। [3]
20. उनमें कोई जातिगत भेदभाव नहीं है और न व्यक्तिगत....... है। [3]
22. बर्बर पुरुष भी उसके पास.......बिना पवित्रता के वायुमंडल में। [3]
24. रत्न.......पर नहीं मिलते। [3]
26. गाय और भैंस का दूध.......और थूहर का रस, दूध कहलाता है। [2]
27. महावीर, बुद्ध, सुकरात, ईसा.......जैसे व्यक्तियों ने। [3]
28. संख्या के आधार.......एक कवि ने 'तेरापंथ' नाम रखा। [2]
29. कठिन काम है अंतः.......को बदलना। [3]
30. अंधे के '....... सुख' नाम की तरह। [3]

ऊपर से नीचे

1. कोमल मन पर प्रतिकूल.......डालना है। [3]
2. वहां तो एकमात्र.......ही मिलेगा। [3]
3. आत्मा का......., उसका निदिध्यासन। [3]
4. प्रवंचना आज सरलता से.......आ जाती है। [3]
5. वह धर्म है या नहीं—इन प्रश्नों में भी.......था। [4]
9. मादक द्रव्यों का.......छोड़ दिया था। [3]
11. भगवान महावीर के नौ.......थे। [4]
13. ये घोष नवयुग की धर्म-क्रांति के.......घोष थे। [3]
14. शक्ति........और तारक दोनों होती हैं। [3]
15. तब उनके साथ इस कार्यक्रम में.......साधु थे। [3]
16. वह मूर्ति के पास.......बकने लगा। [4]
19. ....वर्ष में एक बहुत बड़े योगी हैं। [3]
21. बबूल का वृक्ष.......उससे अंगूर के फल की आशा करना। [4]
22. धर्म का महत्त्व इसलिए है कि वह आत्मा का.......है। [3]
23. चैतन्य.......की परिधि में जो किया जाता है। [3]
24. कष्ट.......की क्षमता और अनुशासन पालन। [3]
25. हम केवल सुंद-उपसुंद की तरह परस्पर का.......ही कर सकते हैं। [3]
26. ....सांसद भी रहे हैं। [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0006

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 अ	पा	2 न		3 स	ह	4 ज		5 आ	6 प
सी		7 ग	णि	त		8 ग	ण	धा	री
9 म	त्स	र		10 त	11 र	ह		12 र	क्षा
					ही				
13 प्र	ति	14 भा		15 का	म	16 ना		17 त	
वा		वु		नू		18 का	च	म	णि
19 ह	की	क	20 त	न		म		त	
			ला		21 सा		22 स	मा	23 ज
24 का	ला	25 दे	श		ह		हे		ग
ल		श			26 स	मा	ज	ग	त

प्रथम चयनित विजेता—चंदा सुराणा, बीकानेर

अन्य दस चयनित विजेता

1. सरोजदेवी सेठिया, लाडनूं
2. नम्रता जैन, अहमदाबाद
3. विनोद सोलंकी, सायरा
4. मीनादेवी बाफणा, केलवा
5. सरला भंसाली, अहमदाबाद
6. नितिनकुमार नाहटा, मदुरई
7. कीर्ति इन्द्रचन्द चौरड़िया, भुसावल
8. प्रवीण कुमार कोठारी, विलेपारले
9. राजकुमारी ए. रुणवाल, जयसिंगपुर
10. प्रतिभादेवी सेठिया, बीकानेर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

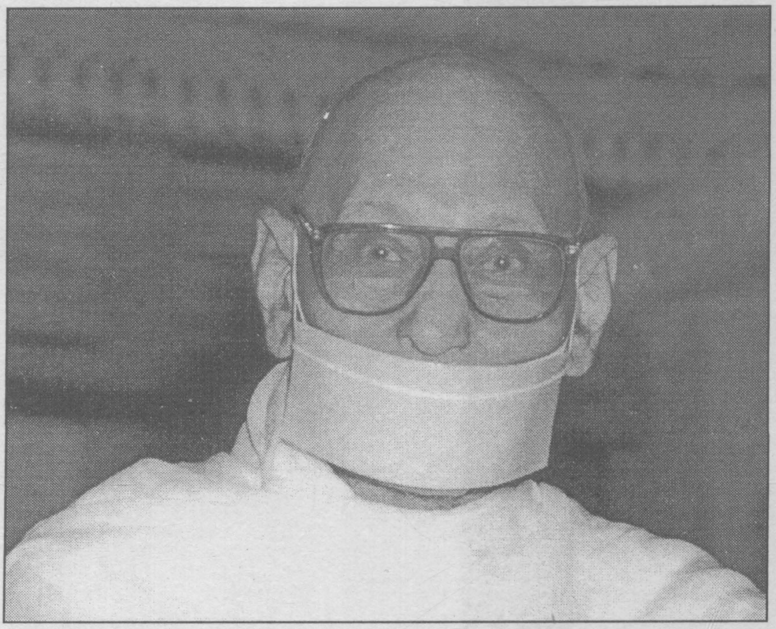

AMIT ®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT-SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

PEMCHAND CHOPRA CHARITABLE TRUST

W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

JHAMKUDEVI CHOPRA CHARITABLE TRUST

11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

श्रीमती मनोहरी देवी बैद

जन्म : 21 जून, 1903 स्वर्गवास : 21 मार्च, 1975

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, **Rourkela** 769004

Phone : 503851

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।